अभिनव रस सिद्धान्त

डॉ० दशरथ द्विवेदी



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

अभिनव-रससिद्धान्त

संपादन तथा टीका

दशरथ द्विवेदी

एम० ए०, साहित्याचार्य, पी-एच० डी०

संस्कृत विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

द्वितीय संस्करण : १९८४ ई०

भारत सरकार द्वारा उपलब्ध किये
गये रियायती मूल्य के कागज पर मुद्रित

प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, विशालाक्षी भवन, चौक, वाराणसी।
मुद्रक : बाम्बे मुद्रण प्रेस, नाटीइमली, वाराणसी।

Dr. A. C. Banerjea
M. A., Ph. D.



Prof. and Head
Depat. of Sanskrit
University of
Gorakhpu।

दो शब्द

भारतीय संस्कृत-काव्य-शास्त्रीय रससिद्धान्त का मूल-स्रोत भरतमुनि का रससूत्र है। इस सूत्र की अत्यन्त विशद व्याख्या सर्वप्रथम आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनव-भारती में की। मम्मटादि आलङ्कारिकों का रस-विवेचन भी इसी अभिनव-कृत व्याख्या पर आधृत है। अद्यावधि अभिनव-भारती के इस अंश का अनुवाद यथोचित रूप से हिन्दी में नहीं किया गया है। डॉ० दशरथ द्विवेदी ने इस पुस्तिका में इसी अभाव की पूर्ति की है। वे अलङ्कार-शास्त्र के मर्मज्ञ हैं। यही कारण है कि उनका यह अनुवाद सरल, स्पष्ट एवं मूलैकाश्रित हो सका है। मेरा विश्वास है कि साहित्यानुरागियों एवं काव्यशास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए यह कृति विशेष उपयोगिनी सिद्ध होगी। आशा है कि डॉ० द्विवेदी अदूरभविष्य में अभिनव के रससिद्धान्त का स्वतन्त्र विवेचन प्रस्तुत कर अपनी सहृदयता का परिचय देंगे।

१० जनवरी, १९७३

अतुलचन्द्र बनर्जी

भूमिका

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ ना० शा०, १।१७।

रस का इतिहास उतना ही पुराना है जितनी यह सृष्टि। 'जगच्चित्र' का निर्माता शिव स्वयं आनन्द-रसमय है। रस के वशीभूत होकर ही वह सर्जना के गुरुतर कार्य में लगा हुआ है। अतएव उसकी कोई भी रचना रस-विहीन हो ही नहीं सकती। सम्पूर्ण प्राणिजात जन्मना रसाभिमुख रहा है। मानवेतर प्राणियों में भी सुख-दुःख की अनुभूति देखी जाती है। निरन्तर विकास एवं परिवर्तन के अटूट मार्ग पर अग्रसर मानव-जाति में इसकी अजस्र धारा का प्रवाहित होना तो परम स्वाभाविक है। यह अवश्य है कि रस की इस अविच्छिन्न परम्परा को, जो मानव द्वारा सभ्यता के प्रथम विहान में पदार्पण करने के बहुत पूर्व से चली आ रही है, वाणी में उस प्रकार नहीं उतारा जा सका था जिस रूप में हम आज उसका प्रयोग करते हैं। प्राग्वैदिक मानव भी प्रकृति की गोद में स्वच्छन्द आनन्द लेता रहा होगा। वह उसकी असीम कृपा तथा संत्रास से सुखी एवं दुःखी होता रहा होगा। वैदिक कवि तो आनन्दमग्न होकर ही उसकी शक्ति का गान करता रहा है। वैदिक रचनाओं में कवित्व की पूर्णता एवं सरसता का पूर्ण साम्राज्य है। यागों के अवसर पर मन्त्रों का गायन होता था। अभिनय में ही रस का पूर्ण परिपाक पाया जाता है। कतिपय वैदिक संवाद-सूक्तों को लेकर विद्वानों की धारणा तो यह भी है कि वैदिक-युग में भी यज्ञ के अवसर पर नाटक आदि खेले जाते थे। जो भी हो, वर्तमान समय में हम रस की शास्त्रीय मीमांसा भरत-मुनि से प्राप्त करते हैं और सार्ववर्णिक पञ्चमवेद नाट्य-रचना की सामग्री ही भरत-मुनि ने वेदों से ग्रहण की है।

वैदिक साहित्य में भी रस का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में इसका प्रयोग गो-दुग्ध, मधु तथा सोमरस आदि अर्थों में हुआ है।[१] स्पष्ट है कि वस्तु-तत्त्व ही रस कहा जाता था। कालान्तर में संभवतः इसी आधार पर आयुर्वेद में द्रव्यगुण, धातुशक्ति, वस्तु-स्वाद आदि के लिए रसाभिधान स्वीकृत हुआ। वेदोक्त अनेक भौतिक कल्पनाओं की भाँति रस को भी उपनिषत्काल में आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त हो गया। बृहदारण्यक उपनिषद् में रस को वस्तु-तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है—'प्राणो वा अङ्गानां रसः।' तैत्तिरीय उपनिषद् में तो ब्रह्म को ही रसमय बताया

---

१. जन्मे रसस्या वावृधे। ऋ० १।३७।५।
स्वादू रसो मधुपेयो वराय। वही, ६।४।२१।

गया है ।[१] छान्दोग्य उपनिषद् में पृथिवी आदि को भूत आदि का रस कहा गया है ।[२] आगे चलकर दर्शन-शास्त्र में भी 'रस' का समावेश हो गया । सांख्य में रस को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला । वात्स्यायन के काम सूत्र में भी रस शब्द का प्रयोग हुआ है । वहाँ इसका अर्थ रति, प्रीति, भाव, राग, वेग आदि किया गया है ।[३] डॉ० नगेन्द्र आदि विद्वान् तो यह भी मानते हैं कि वात्स्यायन के समय तक रस शब्द की शास्त्रीय विवेचना प्रारम्भ हो गयी थी ।[४] कतिपय विद्वानों का तो यह भी मत है कि आयुर्वेद के विकसित रस-विवेचन के आधार पर ही भरत ने अपने ग्रन्थ को एक व्यवस्थित रूप दिया ।[५] अस्तु, रस की प्राचीनता असंदिग्ध है किन्तु उसकी विधिवत् शास्त्रीय व्याख्या हम तब तक नहीं पाते जब तक भरत तक पहुँच नहीं जाते । अतः अब कुछ जानकारी भरत के विषय में कर लेना आवश्यक है ।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत माने जाते हैं । भारतीय इतिहास म भरत नाम के अनेक व्यक्ति पाये जाते हैं, तो इस ग्रन्थ को किस भरत के साथ जोड़ा जाये, विवाद का विषय है । महाराज दशरथ के पुत्र एवं श्री भगवान् रामचन्द्रजी के प्रिय अनुज भरत तथा मान्धाता के प्रपौत्र एवं दुष्यन्त के पुत्र भरत को नाट्यशास्त्र से तो किसी रूप में भी संलग्न नहीं किया जा सकता; क्योंकि ये दोनों भरतमुनि न होकर सम्राट् हैं । जब कि नाट्यशास्त्र का निर्माता भरतमुनि को माना जाता है । इनके अतिरिक्त 'आदिभरत', 'वृद्धभरत' तथा 'जड़भरत' का भी उल्लेख मिलता है । शारदातनय के 'भावप्रकाशन' से ज्ञात होता है कि नाट्यशास्त्र के दो संस्करण हुए । प्रथम का प्रणेता 'आदिभरत' या 'वृद्धभरत' को कहा गया है और द्वितीय संस्करण का 'भरत' को । प्रथम संस्करण वर्तमान नाट्यशास्त्र की अपेक्षा दो गुना बड़ा था । उसमें बारह सहस्र श्लोक थे । इसीलिए उसे 'द्वादशसाहस्री संहिता' कहा गया है । उपलब्ध ग्रन्थ छह सहस्र श्लोकों में है । इसे 'षट्साहस्री संहिता' कहा जाता है । दोनों संस्करणों के विषय में शारदातनय कहते हैं—

'एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्थतः ।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः ॥'

(भावप्रकाशन, पृ० २८७)

---

१. रसो वै सः । तैत्तिरीयोपनिषद् २।७ ।

२. एषां भूतानां पृथिवी रसः । पृथिव्या आपो रसः । अपामोषधयो रसः । ओषधीनां पुरुषो रसः । पुरुषस्य वाग्रसः । वाच ऋग् रसः । ऋचः साम रसः । साम उद्गीथो रसः ।
—छान्दो० १।१।२-३ ।

३. रसो रतिः प्रीतिर्भावो रागो वेगः समाप्तिरिति रतिपर्यायः ।
—का० सू० २।१।६५

४. द्रष्टव्य, रस सिद्धान्त, पृ० ८ ।

५. डी० के० बेडेकर, 'रससिद्धान्त का स्वरूप', आलोचना, अप्रैल ३, १९५२ पृ० ६८ ।

इससे इतना तो माना ही जा सकता है नाट्यशास्त्र के रचयिता का 'भरत' नाम संभवतः व्यक्तिगत न होकर उपाधिगत है। जो भी हो इतना तो नियत है कि प्रकृत ग्रन्थ के निर्माता कोई 'भरतमुनि' ही थे जिनका उल्लेख राजशेखर ने भी अपनी काव्य-मीमांसा में किया है।[१] वैसे अभिनवगुप्त के पूर्व कुछ भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित थीं कि प्रथम अध्याय के छः श्लोक भरत के किसी शिष्य द्वारा प्रणीत हैं। प्रश्नोत्तर भी किसी शिष्य द्वारा ही किये गये हैं। मूलपाठ के प्रणेता भरत हैं। इनका खण्डन अभिनवगुप्त ने इस प्रकार किया है—

'...एकस्य ग्रन्थस्यानेकवक्तृवचनसन्दर्भमयत्वे प्रमाणाभावात् स्वपरव्यवहारेण पूर्वपक्षोत्तरपक्षादीनां श्रुतिस्मृतिव्याकरणतर्कादिशास्त्रेष्वेकविरचितेष्वपि दर्शनात्।'

—अ० भा०, पृ० ६०।

कतिपय लोग यह भी मानते थे कि नाट्यशास्त्र के तीन प्रवर्तक आचार्य थे—सदाशिव, ब्रह्मा और भरत। इन तीनों के सारासार को लेकर ब्रह्मा के मत को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए नाट्यशास्त्र का निर्माण (ब्रह्मा द्वारा) किया गया, न कि इसके प्रणेता भरत हैं। इसका भी अभिनवगुप्त ने खण्डन किया है—'एतेन सदाशिवब्रह्म-भरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनाय मतत्रयीसारासारविवेचनपरं तद्ग्रन्थ-खण्डप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रं, न तु मुनिविरचितम्' इति यदाहुर्नास्तिकधुर्योपाध्या-यास्तत्प्रत्युक्तम्।' अ० भा० वही।

प्रश्नोत्तर के विषय में अभिनव ने बताया है कि, भरतमुनि ने स्वयं अपने ही दूसरे की भाँति प्रश्नोत्तर करके संपूर्ण ग्रन्थ का निर्माण किया था—

'एवं भरतमुनिः परवदात्मानं प्रकल्प्येयन्तं ग्रन्थमभिहितवान्।'

—अ० भा०, पृ० ५९।

अतएव नियत है कि इस ग्रन्थ की रचना भरत ने ही की थी। एतद्विषयक विवाद के लिए विस्तार से महा० भ० काणे के 'संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास' द्रष्टव्य है।

भरत की रचना नाट्यशास्त्र का समय विद्वान् ई० पू० प्रथम-द्वितीय शती से लेकर ईसा की चतुर्थ पञ्चम शती तक मानते हैं।[२]

नाट्यशास्त्र के दो संस्करण पाये जाते हैं—(१) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित, जिसमें ३७ अध्याय हैं तथा (२) चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी से प्रकाशित, जिसमें ३६ अध्याय हैं। प्रथम की अपेक्षा दूसरा संस्करण ही अधिक प्रामाणिक माना जाता है; क्योंकि अभिनवगुप्त ने स्वयं इसे 'षट्त्रिंशकं भरतसूत्रम्' कहा है—

षट्त्रिंशकात्मकजगद्गगनावभास-
संविन्मरीचिचयचुम्बितबिम्बशोभम्।

---

१. '...रूपकनिरूपणीयं भरतः। रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः।

—का० मी०, अध्याय १, पृ० २।

२. सुशीलकुमार दे, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ३१ तथा काणे, सं० का० इ०, पृ० २८।

षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्
वन्दे शिवं श्रुतितदर्थविवेकधाम ॥

—अ० भा०, श्लोक २।

प्रकृत पद्य में अभिनव ने छत्तीस तत्त्वों से युक्त जगत् को प्रकाशित करने वाले परमशिव को नमन करते हुए 'षट्त्रिशक' भरतसूत्र की व्याख्या करने का उल्लेख किया है। ग्रन्थ में विवेचित सामग्री संक्षेप में इस प्रकार है—

नाट्योत्पत्ति नामक प्रथम अध्याय में नाट्य की उत्पत्ति कैसे हुई का विवेचन है। द्वितीयाध्याय, जिसे मण्डपाध्याय की संज्ञा दी गयी है, में मण्डप अर्थात् प्रेक्षागृह आदि की रचना का वर्णन है। 'रङ्गदैवतपूजन' नाम के तीसरे अध्याय में रङ्गदेवता की पूजा का संविधान है। चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ अध्यायों का क्रमशः नाम है, ताण्डवलक्षण, पूर्वरङ्ग विधान और रस। नामानुकूल वस्तुओं का विवेचन भी इनमें किया गया है। 'भावव्यञ्जक' नामक सातवें अध्याय में भावों का तथा 'अङ्गाभिनयाध्याय' अष्टम अध्याय में आङ्गिक आदि अभिनयों का वर्णन है। उपाङ्गाभिनय नामक नवम अध्याय में हाथ-पैर आदि के अभिनयों की व्याख्या है। दशम तथा ग्यारहवें में चारी (नृत्य की गति के भेद) तथा नृत्य-गति की व्याख्या है, अध्यायों के नाम हैं—चारी विधान तथा मण्डलविकल्पनम्। गतिप्रचार संज्ञक तेरहवें अध्याय में रङ्गभूमि में पात्रों के प्रवेश आदि की विधियों का विवेचन है। तेरहवें का नाम है—कक्षाप्रवृत्तिधर्मी व्यञ्जक और इसमें रङ्गमञ्च के विभिन्न भागों तथा आवन्ती आदि प्रवृत्तियों की व्याख्या है। चौदहवें तथा पन्द्रहवें अध्याय में छन्दों का विवेचन है तथा सोलहवें में काव्य के लक्षण, गुण, अलङ्कार, दोष आदि का वर्णन किया गया है। सत्रहवें में काकुस्वर-विधान एवं भाषाओं की विवेचना उपलब्ध होती है। अठारहवें का नाम ही दशरूप-काध्याय है। उन्नीसवें में सन्धि आदि का निरूपण है। अध्याय का नाम भी 'सन्धि निरूपणाध्याय' है। बीसवें में कैशिकी आदि वृत्तियों तथा इक्कीसवें में आहार्य अभिनय और वेष-भूषा आदि का विधान है। 'सामान्याभिनय' नामक बाईसवें अध्याय में हाव-भाव, प्रेम की दश अवस्थाओं एवं नायिका-भेद का निरूपण किया गया है। तेईसवें में प्रणयाप्ति तथा दूती आदि की विधियाँ उल्लिखित हैं। २४वें अध्याय में उत्तम आदि पात्रों का विवेचन है। चित्राभिनय संज्ञक २५ वें अध्याय में अभिनय विशेषों का निरूपण किया गया है। २६वें में विकृत अभिनयों का वर्णन है, अध्याय का नाम ही है—विकृतिविकल्पाध्याय। २७वें में अभिनय-सिद्धि तथा उसमें आने वाले विघ्नों के निवारण की विधियाँ वर्णित हैं। २८वें से ३५वें तक नाट्यसंगीत का व्याख्यान है। ३६वें अध्याय में अभिनेता एवं अन्य कर्मचारियों के गुण वर्णित हैं। इसी में यह भी है कि नाट्य का स्वर्ग पृथिवी पर कैसे उतर आया जिसे ३७वें अध्याय का विषय माना जाता है। संक्षेप में पूरे नाट्यशास्त्र का यही वृत्त है।

भरत से पूर्व भी नाट्यशास्त्र के कतिपय आचार्य थे जिनका उल्लेख यत्र-तत्र

मिलता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में सूत्र 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (पा० ४-३-११०) तथा 'कर्मन्दकृशाश्वादिनिः' (पा० ४-३-१११) में शिलालिन् और कृशाश्व नट-सूत्रों के प्रणेता बताये गये हैं। इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के अन्त में भरत ने अपने पूर्ववर्ती चार आचार्यों का इस प्रकार उल्लेख किया है—

कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्यशाण्डिल्यधूर्तिलैः।
एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिवर्धनम्॥

कोहल का उल्लेख अभिनवगुप्त ने भी अनेक बार किया है। प्रथम अध्याय में नान्दी-विवेचन के परिसर में उन्होंने कहा है कि 'इत्येषा...कोहलप्रदर्शिता नान्दी उपपन्ना भवति'। इसी प्रकार छठे अध्याय में नाट्य के रसभाव आदि ग्यारह अङ्गों के विषय में भरत से कोहल के मत की भिन्नता को दिखाया है—

'अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेन एकादशाङ्गत्वमुच्यते। न तु भरते।'

इसी प्रकार अभिनव ने और अन्य छः स्थलों पर कोहल के श्लोक आदि प्रस्तुत किये हैं। आचार्य दत्तिल का अभिनव ने संगीताध्याय में तथा अन्यत्र १५ से भी अधिक बार स्मरण किया है। किन्तु वात्स्य और शाण्डिल्य का उन्होंने कहीं नाम नहीं लिया है। नाट्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों में नखकुट्ट तथा अश्मकुट्ट का भी उल्लेख मिलता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ में तथा 'सागरनन्दी' ने अपने 'नाटक लक्षणकोश' में क्रमशः नखकुट्ट और अश्मकुट्ट के मतों की चर्चा की है। वैसे भी नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरत के सौ पुत्रों में कोहल, दत्तिल, शाण्डिल्य और धूर्तिल के अतिरिक्त इन दोनों आचार्यों का भी परिगणन है। इसी प्रकार बादरायण का भी भरत-पुत्रों में उल्लेख किया गया है। सागरनन्दी ने भी इनका बादरायण तथा बादरि के नाम से दो बार स्मरण किया है।

शिलालेखों में शातकर्णी का नाम पाया जाता है। सागरनन्दी के अपने ग्रन्थ 'नाट्यलक्षणरत्नकोष' तथा उसपर रुचिपति की टीका में भी इनका उल्लेख किया गया है। शातकर्णी नामक एक राजा भी पूर्व काल में हो चुके हैं, संभवतः वही नाट्यशास्त्र के भी आचार्य रहे हों। रघुवंश के ३८-४० श्लोक में शातकर्णी मुनि का उल्लेख है जो इन्द्र द्वारा प्रेषित अप्सराओं के जाल में उलझ गये थे। मुनिवर के आश्रम से उठती संगीत-ध्वनि भगवान् रामचन्द्र के विमान का स्पर्श कर रही थी। नाट्यशास्त्र में भी 'शालिकर्ण' नाम आया है। संभवतः शातकर्णि का ही पाठान्तर हो।

शारदातनय तथा अभिनवगुप्त नन्दी या नन्दिकेश्वर को भी नाट्याचार्य के रूप में स्मरण करते हैं। बहुत संभव है कि यह नन्दिकेश्वर 'अभिनयदर्पण' के कृती ही हों। अभिनव-भारती में तुम्बुरु और विशाखिल का भी मत प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार चारायण नाम के आचार्य का सागरनन्दी ने उल्लेख कर उनके आचार्यत्व की सूचना दी है। शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाशन' में सदाशिव, पद्मभू, द्रौहिणि, व्यास तथा आञ्जनेय को भी नाट्याचार्य के रूप में याद किया है। शारदातनय को

तो अभिनवगुप्त तथा धनञ्जय ने भी अपने दशरूपक (४।३७-३८) में प्रस्तुत किया है। अभिनवगुप्त ने १४ वें अध्याय में कात्यायन के नाम से एक से अधिक श्लोक प्रस्तुत किया है—

'यथोक्तं कात्यायनेन—

वीरस्य भुजदण्डानां वर्णने स्रग्धरा भवेत्।
नायिकावर्णने कार्यं वसन्ततिलकामिदम्॥
शार्दूललीला प्राच्येषु मन्दाक्रान्ता च दक्षिणे।
इत्यादि।'

सागरनन्दी भी इनका उल्लेख करते हैं। 'अभिनव-भारती' तथा 'नाट्य लक्षण-रत्नकोश' उभयत्र राहुल के मतों की चर्चा है। इसी प्रकार सागरनन्दी के ग्रन्थ में एक बार 'गर्ग' आचार्य का भी नाम आया है। अभिनव के उल्लेख से प्रतीत होता है कि शंकलीगर्भ एवं घण्टक भी कोई नाट्याचार्य थे। अभिनव-भारती तथा 'भावप्रकाशन' में हर्षविक्रम नामक वार्तिककार का अनेकधा उल्लेख किया गया है। 'शाकुन्तल' की टीका में राघवभट्ट ने कितने ही श्लोक मातृगुप्त आचार्य के प्रस्तुत किये हैं। हो सकता है मातृगुप्ताचार्य भरत-सूत्रों के व्याख्याता या स्वयं नाट्यविषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ के निर्माता रहे हों। नाट्यकार 'सुबन्धु' जो वासवदत्ता के भी निर्माता हैं, को भी शारदातनय ने नाट्यकार के रूप में माना है। नाट्य-विषयक सामग्री अग्निपुराण तथा विष्णुधर्मोत्तर में भी उपलब्ध होती है। इस प्रकार संक्षेप में उपर्युक्त आचार्यों को भी नाट्य का आचार्य कहा जा सकता है। यद्यपि इनके कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

रस-सिद्धान्त भारतीय चिन्तन की लगभग दो सहस्र वर्षों की सतत साधना की महान् उपलब्धि है। और इसकी विवेचना का प्रथम प्रयास देखा जाता है भरत के नाट्यशास्त्र में। भरत के पूर्व या उनके बाद भी रस-विवेचन की परम्परा रही है, को भी अस्वीकारा नहीं जा सकता, जैसा कि पहले की पंक्तियों में सूक्ष्मरूप से कतिपय आचार्यों के उल्लेख से व्यक्त होता है। भरत-सूत्र के अनेक व्याख्याता आचार्य भी हुए हैं जिनके विवेचन हम आगे करेंगे। भरत के नाट्यशास्त्र का महत्त्व इसी बात से लगाया जा सकता है कि, अधुनातन विद्वान् विषय की व्यापकता एवं विवेचन की गम्भीरता को देखते हुए इसे 'सौन्दर्यशास्त्र' कहना अनुचित नहीं मानते। सौन्दर्य-शास्त्र के अन्तर्गत मुख्यतः कलागत सौन्दर्य की ही व्याख्या होती है और काव्य को सर्वोत्कृष्ट कला माना जाता है। इसी आधार पर भारतीय काव्य-शास्त्र को 'सौन्दर्य-शास्त्र' के समकक्ष रखा जा सकता है, अन्यथा पाश्चात्य 'सौन्दर्य-शास्त्र' (Aesthetic) से भारतीय काव्य-शास्त्र की कोई तुलना संभव नहीं है। नाट्यशास्त्र का प्रधान विवेच्य तत्त्व है रस। रस संवेदनाओं एवं अनुभूतियों से सम्बन्ध रखता है। सौन्दर्यशास्त्र भी संवेदनाओं का विवेचन करता है। दूसरी बात यह कि, नाट्यशास्त्र में न केवल नाटक

एवं काव्य का ही विवेचन है, अपितु चित्रकला, संगीत, नृत्य आदि का भी। कलाओं की तथा उसके प्रधान लक्ष्य की ओर भी इसमें सङ्केत उपलब्ध है। इन्हीं कारणों से इसे 'सौन्दर्यशास्त्र' का ग्रन्थ कहा जा सकता है। भारतीय कला-समीक्षकों ने आत्मवाद एवं शरीरवाद के सन्दर्भ में रस की व्याख्या प्रस्तुत की है। प्रथम को रूपवादी तथा दूसरे को तत्त्ववादी भी कहा जाता है। प्रथम मत के विवेचक जहाँ अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति के आधार पर रूप की विवेचना में अग्रसर दीखते हैं तो वहीं अपर मतावलम्बी रस, ध्वनि, औचित्य के द्वारा तत्त्व की अन्वेषणा में। विवेचन की इस सुदीर्घ परम्परा ने सौन्दर्य-चिन्तन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं गंभीर तत्त्वदृष्टि को जन्म दिया है।

पाश्चात्य विचारकों में एमिस ने 'रूप' को पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की प्रधान अवधारणा स्वीकार किया है। इस क्रम में उन्होंने हेगेल और क्रोचे की रूपगत मान्यताओं को रखते हुए अभिनवगुप्त आदि के कला-सिद्धान्तों को तत्सदृश बताया है। एमिस का विचार है कि जिस प्रकार हेगेल ने सौन्दर्यशास्त्र को परमसत्ता के रूपाकार तक बढ़ाया तथा क्रोचे ने 'रूप' को प्रातिभज्ञान में विलीन कर रूप की सत्ता ही समाप्त कर दी, उसी प्रकार भारतीय विद्वान् अभिनव आदि ने 'रस' को ऐन्द्रियबोध के स्तर से ऊपर उठाकर स्वसंवित् की चर्वणा में पर्यवसित कर दिया।[१] प्रो० बाम के अनुसार पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र प्रधानतया वस्तुगुणों पर केन्द्रित रहता है जिससे कलाकृति या सुन्दरवस्तु प्रमाता में सौन्दर्यानुभूति की सृष्टि करती है। इस प्रकार पाश्चात्य विचारक वस्तुगत रूप के विचार की ओर ही अधिक उन्मुख रहता है। किन्तु भारतीय परम्परा में परमसत्ता को सत्, चित् और आनन्दरूप माना गया है। और तदनुसार सौन्दर्य को उस परमसत्ता की प्रातिभ प्रतीति कहा गया है। इस प्रकार हमारी परम्परा में वस्तुरूप के सौन्दर्य से अधिक उसकी प्रातिभ-प्रतीति में ज्यादा बल दिया जाता है। प्रो० बाम आगे प्रतिपादित करते हैं कि, पाश्चात्य विचारक आज भी बुद्धि और इच्छा के द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो पाया है जब कि भारतीय-चिन्तन में बुद्धि और इच्छा के द्वन्द्व को कोई भी महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिला है। ये दोनों ही यहाँ भ्रममात्र या सत् के विकृत रूप हैं। अन्ततः प्रो० बाम इस विचार पर आते हैं कि, भारतीय तथा पश्चिमी सभ्यता के आदर्श परस्पर में इतने विरोधी हैं कि एक में जो सबसे अधिक तथ्य एवं शुभ है वही दूसरे में कम तथ्य एवं शुभ। अतः दोनों की तुलना आसान नहीं है—

The dominating ideals of Hindu and Western civilization appose each other so completely that what is taken as most real and good in the one is regarded as least real and good in the other......often appears impossible when the seemingly contradi-

१. डा० निर्मला जैन, 'रससिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र', मुखबन्ध, पृ० १३।

:tory character of ideals of different civilizations comes to be ınderstood.[१]

वस्तुतः प्रत्येक सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणा संस्कृति-विशेष की उपज होती है। अतः किसी एक चिन्तन-प्रणाली से किसी दूसरी को मापने का प्रयास अधूरा ही होता है। अतएव भारतीय सिद्धान्तों को पाश्चात्य की सौन्दर्यशास्त्रीय परिधि में रख कर देखना, जैसा कि आजकल चल पड़ा है, महान् भूल होगी। भारतीय कला की सबसे महान् अवधारणा है 'रस'। और पश्चिम में इसके समकक्ष कोई बना-बनाया सिद्धान्त नहीं है, अस्तु। हमें इस रस-तत्त्व की ही व्याख्या करनी है।

नाट्यशास्त्र में नाटक के अन्य अङ्गों के साथ-साथ रस का भी विवेचन है, किन्तु रस को सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ठीक भी है क्योंकि, बिना रस के कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु या कला में प्रवृत्त नहीं होता—'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'। इस प्रकार कला का प्रधान प्रयोजन प्रीति, आनन्द या रस है; किन्तु यही अन्तिम उद्देश्य नहीं है। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में मुनि ने १०७–११५ श्लोकों में कला के उद्देश्य को व्यक्त किया है—

'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ॥
क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छ्रमः।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः॥
धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपजीविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया॥
क्लीबानां धाष्ट्र्यजननं उत्साहः शूरमानिनाम्।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि॥
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च।
अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्नचेतसाम्॥
... ...
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥'

तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन ही नाट्य है। यह धर्मात्मा के लिए धर्म तथा कामी के लिए काम का उपदेश करने वाला है। दुष्टों का निग्रह, क्लीबों तथा कायरों में पौरुष, अभिमानी तथा पराक्रमी में उत्साह का सञ्चार ही नाट्य का प्रयोजन है। अज्ञानियों को प्रकाश, विद्वानों को वैदुष्य, धनवानों को भोग, पीड़ित को सहारा, अर्थपीड़ित के लिए धन तथा उद्विग्न व्यक्ति को धैर्य प्रदान करना ही इसका लक्ष्य

१. Journal of Aesthetics and Art criticism (Dec., 1965) pp. 113–14. उद्धृत डॉ० निर्मला जैन, वही, पृ० १५।

है। दुःख से मारे, श्रम से क्लान्त, शोक-पीड़ित दीन-दुःखियों को यह विश्रान्ति प्रदान करने वाला है। इस प्रकार भरत के अनुसार नाटक न केवल भावक को सच्चिदानन्द की प्राप्ति कराता है, बल्कि संपूर्ण सांसारिक कष्टों से भी मुक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार भरत की कला-दृष्टि न केवल लोकरञ्जन की ओर ही उन्मुख है प्रत्युत् वह लोक-मङ्गल की भावना से भी ओतप्रोत है। भारतीय विचारधारा की यही सबसे बड़ी विशेषता है जहाँ पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्री की पहुँच नहीं है। वस्तुतः आचार्य भरत का कला-सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यन्त विकसित एवं व्यापक है। नाटक समस्त कलाओं का मूल है, एक ओर तो स्वयं ब्रह्मा के द्वारा आविष्कृत बताया गया है तो दूसरी ओर उसकी उपयोगिता देव-दानव, मनुष्य आदि सबके लिए है। उसकी व्यापक परिधि में सब प्रकार के चरित्र, कार्य एवं भाव समाहित हैं। भरत की दृष्टि में कला की सृष्टि 'क्रीडनीयक' की अभिलाषा में न्यस्त है। अतः उसका प्रधान प्रयोजन प्रीत्यात्मा आनन्द को होना चाहिए साथ-साथ लोक के अभावों की पूर्ति करते हुए मङ्गलकारी होना चाहिए। नाट्य है क्या ? का विवेचन भी भरत ने इस प्रकार किया है—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
अङ्गाद्यभिनयोपेतः नाट्यमित्यभिधीयते ॥

(ना० शा० १।११९)

अर्थात् भावों तथा अवस्थाओं का अनुकरण ही नाट्य है, किन्तु इस अनुकृति में सौन्दर्यव्यापार भी समाविष्ट है। लोकस्वभाव भाव एवं अवस्था का तथा अभिनय सौन्दर्य का प्रतीक है। स्वयं अभिनवगुप्त इसके व्याख्यान में कहते हैं—

'लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानः चर्व्यमाणः अर्थः नाट्यम्।... स कथं गोचरीभवति इत्याह... अङ्गाद्यभिनयैरुपेतः उपसमीपमितः संविद्दर्पणमभिसंक्रान्तः, एवंभूतों योऽर्थः तन्नाट्यम्।'

(वही, अ० भा०)

अर्थात् अभिनय ही रस-सृष्टि का प्रधान माध्यम है। रस के सम्बन्ध में दो परम्पराएँ पायी जाती हैं—(१) द्रुहिण अर्थात् ब्रह्मा की और (२) वासुकि की। द्रुहिण आठ रस मानते थे और वासुकि नवें शान्त को भी। यद्यपि भरतमुनि ने वासुकि के मत को भी ध्यान में रखा है किन्तु द्रुहिण की परम्परा पर उन्होंने स्पष्ट प्रयाण किया है। भरत का रस-विवेचन नाट्यरस का विवेचन है। रस ही नाट्य का पर्यवसान है, किन्तु नाट्य में अनेक तत्त्वों की आवश्यकता होती है—

रसा भावा ह्यभिनयाधर्मीवृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः ॥

(ना० शा० ६।१०)

अर्थात् आठ रस, उनचास भाव, चतुर्विध अभिनय, द्विविध (नाट्य एवं लोक) धर्मी, चार वृत्तियाँ तथा चार प्रवृत्तियाँ, द्विविध सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रङ्ग

ही नाट्य के समुदाय हैं। और इन सबका एकमात्र प्रयोजन है मनोविश्रान्ति जिसे रसना-व्यापार या आस्वाद कहते हैं। आस्वाद ही रस है, रस ही नाट्य। नाट्य का फल हुआ सहृदय रसिक की प्रतिभा का विकास।

आचार्य भरत ने रस का जो स्वरूप दिया है उसकी व्याख्या के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि, यह रस नाट्य रस है। नाट्यगत प्रत्येक वस्तु रसानुगत होती है। उनके कथन—'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'—का अभिप्राय यही है। इसीलिए उन्होंने सर्वप्रथम रस का विवेचन किया है—'तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः।' और रस का रूप उन्होंने दिया—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।' अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का (रत्यादि स्थायीभावों से) संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है। इसके लिए उन्होंने दृष्टान्त प्रस्तुत किया है कि, 'जिस प्रकार उपसेचन आदि नाना द्रव्यों एवं ओषधि आदि के संयोग से (भोज्य वस्तुओं में) रसादि की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार विभाव आदि नाना भावों का रति आदि स्थायीभावों से संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है—

'को दृष्टान्तः ? अत्राह, यथा हि नानाव्यञ्जनोषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः, तथा नाना भावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।'

(ना० शा०)

जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्य, उपसेचन आदि व्यञ्जन तथा इमली, हल्दी आदि ओषधियों के मिश्रण से बना हुआ भोज्य पदार्थ कटु आदि लौकिक रसों से विलक्षण और प्रकार का ही होता है उसी प्रकार विभाव आदि नाना प्रकार के भावों से प्रत्यक्ष-कल्प प्रतीत होने वाले स्थायीभाव ही रस को प्राप्त हो जाते हैं। इन्हें रस क्यों कहते हैं ? का उत्तर देते हुए मुनि ने कहा है कि आस्वाद्य होने के कारण ही इसे रस कहते हैं। रस का आस्वादन कैसे किया जाता है ? का भी उत्तर आचार्य भरत ने दिया है। जिस प्रकार नाना व्यञ्जनों से संस्कृत अन्न का भोग करने वाले रसों का आस्वाद लेते हैं और आनन्द का अनुभव करते हैं। 'सुमना' भी कहे जाते हैं। उसी प्रकार अनेक प्रकार के (विभाव आदि) भावों तथा अभिनयों से व्यञ्जित, वाचिक, आङ्गिक तथा सात्विक अभिनयों से युक्त स्थायीभावों का प्रेक्षक आस्वाद प्राप्त करते हैं और आनन्द आदि का अनुभव करते हैं। इसीलिए वे 'सुमना' (सहृदय) कहे जाते हैं। नाट्य से उत्पन्न होने के कारण इसे नाट्यरस कहते हैं—

'रस इति कः पदार्थः ? उच्यते, आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः ? यथाहि नानाव्यञ्जन संस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति हर्षादींश्चाधिगच्छन्तीति 'सुमनसः' पुरुषा इत्यभिव्याख्याताः। तथा नानाभावाभिव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति इति प्रेक्षकाः 'सुमनसः' इत्यभिव्याख्याताः। तस्मान्नाट्यरसाः।' (ना० शा०)

इस प्रकार भरत के मत में नाट्य ही रस है और रस ही नाट्य। अभिनवगुप्त की ये पंक्तियाँ इसे ही व्यक्त करती हैं—'नाट्यात् समुदायरूपाद्रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसाः। रससमुदायो हि नाट्यम्।' (अ० भा०)

नाटक आदि में रस की अधिक प्रतीति होती है। अतएव नाट्य को रसरूप कहा गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य में रसानुभूति नहीं होती। काव्य में भी नाट्य के समान ही रस होता है। प्रत्यक्षकल्प काव्यार्थ विषय में भी रसोदय पाया जाता है। उपाध्याय भट्टतौत ने अपने काव्य-कौतुक में कहा है कि—

'यदाहुः काव्यकौतुके—
प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसंभवः। इति।
वर्णनोत्कलिकाभोग प्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।
उद्यानकान्ता चन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः॥' इति।
(अ० भा०)

अर्थात् काव्यकौतुककार काव्य में आस्वाद संभव नहीं पाते। दूसरी कारिका इसकी समर्थक है। अर्थात् अन्य लोग मानते हैं। अभिनव तो स्पष्ट कहते हैं कि काव्य तो दशरूपकात्मक होता ही है—

'वयन्तु ब्रूमः। काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव।..... तेन नाट्य एव रसाः न लोक इत्यर्थः। काव्यं च नाट्यमेव।' (अ० भा०)

रस के उपपादक चार तत्त्व हैं—विभाव, अनुभाव, सञ्चारी या व्यभिचारी तथा स्थायीभाव। सूत्र में आचार्य ने स्थायी का ग्रहण नहीं किया है। व्याख्याकार श्री शंकुक तथा अभिनव इसे अर्थपूर्ण बताते हैं। इसका विवेचन आगे किया जायगा। भाव का हेतु, कारण या निमित्त विभाव कहा जाता है जो विभावन व्यापार या भावना अथवा बोध की प्रक्रिया में सहायक होता है। इसके दो भेद किये गये हैं—आलम्बन तथा उद्दीपन। भावविशेष के विषय को आलम्बन तथा भावों को उद्दीप्त करने वाले कारणों को उद्दीपन कहा जाता है। उदाहरणार्थ दुष्यन्त-शकुन्तला को लिया जा सकता है। मालती नदी, तपोवन का एकान्त वातावरण, शकुन्तला का उन्मुक्त यौवन आदि दुष्यन्त के मन में रतिभाव को उत्पन्न करता है। शकुन्तला यहाँ आलम्बन है और अन्य वातावरण उद्दीपन। वाचिक, सात्त्विक तथा आङ्गिक रूप में उत्पन्न होने वाले विभिन्न भाव ही अनुभाव कहे जाते हैं। विभिन्न स्थायीभावों से संपृक्त क्षण क्षण में उत्पन्न-विलीन होने वाले रोमाञ्च आदि भावों को सञ्चारी या व्यभिचारी कहा जाता है। इनकी संख्या ३३ बतायी गयी है। भरत के ही शब्दों में अनुभाव का स्वरूप तथा व्यभिचारी की संख्या—

'विभावः इति कस्मात्, उच्यते। विभावो नाम विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुः इति पर्यायाः। विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्वाभिनयाः इति विभावः। विभा-

वितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम् । अथानुभावः इति कस्मात्, उच्यते । अनुभाव्यतेऽनेन-वागङ्गकृतोऽभिनयः इति ।' (ना० शा०, अ० ७)

२५वें अध्याय में आचार्य कहते हैं—

'विभावेनाहृतं कार्यमनुभावेन नीयते ।
आत्माभिनयनं भावो विभावः परदर्शनम् ॥
गुरुर्मित्रं सखा स्निग्धः सम्बन्धी बन्धुरेव च ।
आवेद्यते तु यः प्राप्तः स विभाव इति स्मृतः ॥
एवमन्येष्वपि तथा नानाकार्यार्थदर्शनात् ।
विभावो वाऽनुभावो वा विज्ञेयोऽर्थवशात् बुधैः ॥

(ना० शा०, अ० २५)

व्यभिचारी—

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदः श्रमः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥

(ना० शा०, अ० ७)

स्थायी के विषय में आचार्य भरत ने बहुत कुछ न कहकर केवल उसके महत्त्व की स्थापना की है । उनका विचार है कि, 'जैसे मनुष्यों में राजा तथा शिष्यों में गुरु की प्रतिष्ठा होती है वैसे ही सभी भावों में स्थायीभाव की प्रतिष्ठा है ।' दशरूपककार आदि ने इसका स्वरूप-निर्धारण किया है । मन में वासनारूप से अवस्थित, विरोधी अथवा अविरोधी भावों से विच्छिन्न न होने वाले, अन्य भावों को आत्मभाव प्राप्त कराने वाले, आप्रबन्ध स्थित रहने वाले, आस्वाद्य मनोभावों को स्थायी कहते हैं—

'विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते नयः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥'

(दशरूपक)

भावाध्याय के प्रारम्भ में भरतमुनि ने नाट्यभावों का स्वरूप बताया है । कहते हैं—'भावाः इति कस्मात् ? किं भवन्ति इति भावाः, किं वा भावयन्ति इति भावाः ?

उच्यते, वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावाः।' यहाँ आचार्य ने लौकिक तथा नाट्यगत दोनों ही भावों का निर्देश कर दिया है। 'भवति इति भावः' लौकिक व्यवहार का विषय है। नाट्यभाव आस्वाद्य होते हैं, काव्यार्थ का भावन करते हैं, 'भावयति इति भावः।' अभिनव भी कहते हैं, 'भावयन् आस्वादयोग्यी कुर्वन्।' विभावादि से व्यञ्जित भाव आस्वाद्य होते हैं न कि लौकिक। नीचे की कारिकायें इसे ही व्यक्त करती हैं—

'विभावैराहृतो योऽर्थः ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥
वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥

(ना० शा०, अ० ७)

कवि का अभीष्ट ही काव्यार्थ है। विभाव तथा अनुभाव एवं वाचिक आदि अभिनय उसे व्यञ्जित करने वाले तत्त्व हैं। कवि का अन्तर्गत भाव चित्तवृत्ति रूप है। यह कवि का अपना मनोविकार न होकर लौकिक देश, काल आदि से अछूता, साधारणी-भाव द्वारा विभाव आदि से अभिव्यञ्जित आस्वाद्य अलौकिक काव्यार्थ होता है; क्योंकि लौकिक मनोविकार आस्वाद्य नहीं हो सकता। अभिनव कहते हैं, 'कवेः वर्णनानिपुणस्य यः अन्तर्गतः अनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयः न तु लौकिकविषयजः, देशकालादिभेदाभावात् साधारणीभावेन आस्वादयोग्यः।' कवि के अन्तर्गत भाव सामाजिक को कैसे आनन्दित कर सकते हैं ? का भरतमुनि ने उत्तर दिया है साधारणीकरण। ये भाव विभावादि से साधारणीभूत होने के कारण कवि के अन्तर्गत भाव को भावित करते हुए सहृदय सामाजिक को भी भावित करते हैं। भावाध्याय में आचार्य ने इसका विस्तार से विवेचन किया है। भरतमुनि के रस-सूत्र के व्याख्याताओं तथा अन्य परवर्ती आचार्यों के मत को आगे प्रस्तुत किया जायेगा।

भरत-नाट्यशास्त्र पर आज केवल एक ही टीका मिलती है—अभिनवगुप्त पाद की 'अभिनव-भारती'। अभिनवगुप्त के विवेचन से ही ज्ञात होता है कि, उनके पूर्व भी भट्टलोल्लट, श्री शङ्कुक, भट्टनायक आदि आचार्यों ने 'नाट्यशास्त्र' पर टीकाएँ लिखी थीं। शार्ङ्गदेव अपने 'सङ्गीतरत्नाकर' में कहते हैं—

'व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः॥'

इनमें भट्टनायक का नाम नहीं आया है। उनके स्थान पर भट्ट उद्भट का उल्लेख हुआ है। इनके अतिरिक्त 'अभिनवभारती' में भाष्यकार एवं वार्तिककार का भी नाम आता है। भाष्य के कृती नान्यदेव माने जाते हैं। कीर्तिधर को अभिनवगुप्त ने चतुर्थ

अध्याय के अन्त में बड़े आदर के साथ स्मरण किया है—'इति कीर्तिधराचार्याः।' संभवतः यह नाट्यशास्त्र के सबसे प्राचीन व्याख्याता रहे हों। बरौदा संस्करण के पृ० २९३ पर 'उक्तं नान्यदेवेन स्वभरतभाष्ये' लिखकर अभिनवगुप्त ने नान्यदेव को भाष्यकार के रूप में बताया है। यह नान्यदेव निश्चय ही १२वीं शती के मिथिला-नरेश नान्यदेव से भिन्न हैं। आचार्य भरत के बाद काव्यशास्त्रियों में उपलब्ध आचार्य हैं भामह।

भामह के अनुसार काव्य[1] में रस का होना उपयोगी होता है, किन्तु भामह हैं अलङ्कारवादी आचार्य। उनके अनुसार शब्दार्थ ही काव्य है और उसको अलङ्कृत करने वाली वक्रोक्ति ही काव्य का उत्तम भूषण है।[2] उनके अनुसार रस भी एक अलङ्कार है, रसवत्। रसवत् की परिभाषा न देकर उन्होंने केवल उदाहरण दिया है, प्रेम, रसवत् और ऊर्जस्वि का—

प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः॥ का०, ३।५।

विदुर की उक्ति से प्रतीत होता है कि भाव ही प्रेय है। रसवत् का लक्षण—

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा।
देवीसमागमद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिते॥ वही, ३।६।

जहाँ शृङ्गारादि रस दिखाये गये हों वह रसवत् अलङ्कार है। भगवान् शिव के लिङ्गीरूप का तिरोधान हो जाने पर देवी पार्वती का समागम हुआ। कुमारसंभव के पञ्चमसर्ग में इस भाव का परिष्कृत चित्र देखने को मिलता है। तात्पर्य यह है कि शृङ्गारादि रस ही भामह को रसवत् के रूप में मान्य है। इसी प्रकार ऊर्जस्वि का लक्षण अहङ्कार को व्यक्त करने वाला है।[3] स्पष्ट है कि भामह ने रस की कोई व्याख्या नहीं की; किन्तु इसे मानते नहीं वह, यह बात नहीं है। यहाँ रस भी काव्यशोभाकर धर्म होने से अलङ्कार बनकर रह गया है। केवल स्वरूप विवेचन का अन्तर है। भामह भी काव्यप्रयोजन में प्रीति को स्थान देते हैं—'करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्'। और प्रीति की व्याख्या अभिनव 'आनन्द' करते हैं।

इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली को काव्य मानने वाले दण्डी भी अलङ्कृत, लोकरञ्जक तथा विचित्र मार्ग के निबन्धन को क्रियाविधि–काव्यकरण–का लक्ष्य माना है। दण्डी भी भामह के समान रस का कोई स्पष्ट रूप नहीं दे पाये। अलङ्कारवादी होने के कारण

---

१. अहृद्यमसुभिर्भिन्नं रसवत्वेऽप्यपेशलम्। काव्यं—। काव्य०, ५।६२।

२. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। वहीं, २।८८।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः॥ वही, १।३६।

३. ऊर्जस्वि कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः।
द्विःसन्दधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः॥ काव्या०, ३।७।

उन्होंने भी रस को अलङ्कार माना और वही व्याख्या दी जो भामह ने प्रस्तुत की थी, कि 'प्रियतर कथन प्रेय है, रसपेशल (काव्य) रसवत् कहा जाता है, रूढ अहङ्कार ऊर्जस्वि है ।'[1] दण्डी स्पष्टतः प्रीति अर्थात् भाव को प्रेय कहते हैं । शृङ्गार के विषय में उनका कथन है कि रूपबाहुल्य के योग से रति ही शृङ्गार हो जाती है और वही रसवत् है —

..........रतिः शृङ्गारतां गता ।

रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः ॥ काव्यादर्श २।२७९ ।

इसी प्रकार रौद्र आदि अन्य सात रसों के भी उदाहरण प्रस्तुत कर दण्डी ने उनमें रसवत् अलङ्कार माना है । इसका अर्थ यह हुआ कि आचार्य दण्डी यह कहना चाहते हैं कि विभावादि से उपचित रत्यादि भाव ही रस हैं, वही अलङ्कार है । भावों की उपचयावस्था रस है । संभवतः 'दर्शितस्पष्टरस' भामह की उक्ति भी इसी की ओर सङ्केत करती है । उपचित होने वाले ये भाव या रस काव्योपात्त व्यक्तियों से सम्बन्धित रहते हैं । और काव्य की रसवत्ता आठ रसों पर अवलम्बित है—'इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ।' रसों की संख्या के सम्बन्ध में दण्डी भी आचार्य भरत के अनुगामी प्रतीत होते हैं । और रसस्वरुप के विषय में आचार्य भट्टलोल्लट का अनुगमन करते हैं; क्योंकि दण्डी को अपने पक्ष के लिए साक्षी मानते हैं—'चिरन्तनानां चायमेव पक्षः । तथाहि दण्डिना स्वालङ्कारलक्षणेऽभ्यधायि—रतिः शृङ्गारतां गता रूपबाहुल्ययोगेन ।' इति (काव्यादर्शे), अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः ।' इत्यादि च ।' (अ० भा०) । अतएव रस के विषय में भामह-दण्डी को भट्टलोल्लट का पक्षीय मानना होगा । अभिनव के 'भट्टलोल्लटप्रभृतयः' कथन में 'प्रभृति' शब्द इन्हीं आचार्यों की ओर संकेत करता है ।

अभिनव आदि रसवादी आचार्य भट्ट उद्भट को भी भामह आदि की परम्परा में ही मानते हैं । उद्भट ने रस का क्या स्वरूप निर्धारित किया था, उनके ग्रन्थ की अनुपलब्धि में कहना असम्भव है तथापि यह तो निश्चित ही है कि, वह भी अलङ्कार-वादी हैं और रसादि को अलङ्कार की श्रेणी में रखते हैं । भाव, रस, दोनों के आभास तथा प्रशमन में वह क्रमशः प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्व तथा समाहित अलङ्कार मानते हैं । दण्डी-भामह से उद्भट की विशेषता है इनके स्वरूप को एकदम स्पष्ट कर देना । अनुभावादि से सूचित रत्यादि भावों से युक्त जो काव्य निबन्धित किया जाता है, उसे विद्वान् प्रेयस्वत् काव्य कहते हैं, भाव उसके अलङ्कार होते हैं—

रत्यादिकानां भावानामनुभावादि सूचनैः ।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत् प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥

—का० सा० सं० ४।२ ।

---

१. प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम् ।
ऊर्जस्वि रूढाऽहङ्कारं युक्तोत्कर्षं च तत्त्रयम् ॥ काव्यादर्श, २।२७३ ।

जहाँ स्वशब्द से, स्थायी, संचारी, विभाव, अभिनय (अनुभाव) से शृङ्गार आदि रसों की स्पष्टतया उत्पत्ति होती है उस काव्य को रसवत् कहते हैं। इसी प्रकार जहाँ कामक्रोधादि कारणों से अनुचित भाव-रस का निबन्धन होता है वह काव्य ऊर्जस्वि एवं रसभाव तथा दोनों के प्रशमन में काव्य-बन्ध समाहित होता है :—

रसवद्दर्शित स्पष्ट शृङ्गारादिरसोदयम्।
स्वशब्दस्थायि संचारि विभावाभिनयास्पदम्॥
अनौचित्य प्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते॥
रसभावंतदाभास प्रवृत्तेः प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं तत्स्यात् समाहितम्॥

वही, ३, ५, ७।

उद्भट की कुछ अपनी विशेष उपलब्धियाँ हैं। यहाँ रसादि अलङ्कार अवश्य हैं, किन्तु उनके स्वरूप और अन्तर को उद्भट ने स्पष्ट कर दिया है। रस, भाव, रसाभास-भावाभास एवं इनके प्रशम का स्पष्ट विवेचन तो उद्भट ने किया ही, साथ ही समाहित (प्रशम) का व्याख्यान भामह-दण्डी से सर्वथा भिन्न एवं नूतन है। दण्डी आठ रसों तक ही सीमित थे, किन्तु उद्भट नवें शान्त रस को भी मानते हैं। चतुरूपा भावाः पञ्चरूपा रसाः कहकर उन्होंने रस-भाव की सूचना प्रक्रिया को व्यक्त किया है जो कारिका में भी निहित है। भावों की स्वशब्द, विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी से एवं रसों की स्वशब्द, स्थायी, विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी से परिपुष्टि होती है। लोचन में अभिनवगुप्त ने कहा है—'अन्ये तु शुद्धं विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम् अन्येतत्संयोगम्, एकेऽनुकार्यम्—केचन सकलमेव समुदायं रसमाहुः (पृ० १९६-७)।' लोचनकार द्वारा प्रस्तुत यह मत तथा ध्वनिकार द्वारा आलोचित रस की स्वशब्दवाच्यता उद्भट प्रतिपादित प्रतीत होती है। नाट्यशास्त्र के दशरूपाध्याय में तथा अन्य स्थलों पर अभिनव द्वारा प्रस्तुत उद्भट के विचारों से उनके महत्त्व पर विस्तृत प्रकाश डाला जा सकता है।

आचार्य वामन के अनुसार काव्य अलङ्कार के कारण उपादेय होते हैं और अलङ्कार है सौन्दर्य—'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्सौन्दर्यमलङ्कारः। किन्तु काव्य की आत्मा है रीति। पदों की विशेष रचना रीति कही जाती है। विशेष से तात्पर्य यहाँ गुणस्वरूप से है। और इसीलिए वामन की दृष्टि में रस की प्रतिष्ठा गुण पर निर्भर है। कान्ति नामक गुण ही रस है; क्योंकि यहाँ शृङ्गार आदि रस दीप्त रहते हैं—'दीप्तरसत्वं कान्तिः।' दीप्ता रसाः शृङ्गारादयो यत्र स दीप्तरसः। भामह-दण्डी तथा उद्भट जहाँ रस को अलङ्कार की कोटि में रखते थे वामन ने उसे गुण में आबद्ध कर अधिक प्रौढ़ता एवं सूक्ष्मता का परिचय दिया तथा 'सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः' कहकर नाट्य की प्रधानता मानते हुए भरतमुनि का भी अनुसरण किया।

अलङ्कारवादी होते हुए भी आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम रस का स्पष्ट एवं विस्तृत विवेचन किया है। यद्यपि उन्होंने रसस्वरूप की कोई व्याख्या नहीं दी है, किन्तु ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही वह रस की महत्ता स्थापित कर देते हैं। उनके अनुसार रस-प्रेमी व्यक्ति नीरस शास्त्रों से डरते हैं। अतएव उनमें शीघ्र एवं सरल रीति से काव्य के माध्यम सरस पदार्थों की प्रतीति द्वारा चतुर्वर्ग का अभिनिवेश कराया जाता है—

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥

इसलिए काव्य को महता यत्न से रसपूर्वक ही बनाना चाहिए अन्यथा वह शास्त्र की भाँति इन सरस लोगों के लिए उद्वेगकारक ही होगा—

तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात्॥

काव्यालङ्कार–१२, १–२।

रुद्रट ने ही सघोष शान्त के साथ-साथ प्रेयान् दशम रस को भी मान लिया। उनका तो यह भी कहना है कि आस्वाद्यता के कारण ही रस की कोटि में कोई भी वृत्ति आ सकती है—

रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तत्प्रकाममस्तीति तेऽपि रसाः॥ वही, १२।४।

इस प्रकार इन प्राचीन आचार्यों ने नाट्येतर काव्यों में भी अलङ्कार, गुण, रीति के माध्यम शब्दार्थ-सौन्दर्य की परिधि में रस की परिणति उपस्थापित की। ध्वनि का आविष्कार न होने के कारण इन आचार्यों की उपलब्धि अपने-आपमें बहुत अधिक कही जा सकती है। रससूत्र के व्याख्याता चार आचार्यों का मत उपस्थित करना उपयुक्त होगा। सर्वप्रथम इस गणना में आते हैं आचार्य भट्टलोल्लट।

भट्टलोल्लट का रस-विवेचन साहित्य-जगत् में उत्पत्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। अभिनवभारती में दिये गये उनके मत का अनुवाद इस प्रकार है—

विभाव आदि का स्थायीभाव के साथ संयोग होने पर रस की निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती है। विभाव चित्तवृत्तिरूप स्थायीभाव की उत्पत्ति के कारणरूप में विवक्षित हैं। अनुभाव शब्द से यहाँ रसजन्य कटाक्षादिरूप अनुभाव अभीष्ट नहीं हैं; क्योंकि उनकी गणना रस के कारणरूप में नहीं की जा सकती। वे तो रस के कार्यरूप होते हैं। यहाँ रत्यादि स्थायीभावों के पश्चात् उत्पन्न होने वाले जो कारणरूप अनुभाव हैं उन्हीं की गणना की जा सकती है। निर्वेदादिरूप व्यभिचारीभाव चित्तवृत्तिरूप होने के कारण यद्यपि स्थायी के साथ नहीं रह सकते, किन्तु यहाँ वे उसके संस्काररूप में विवक्षित हैं। अर्थात् रसस्वरूप स्थायी के साथ निर्वेदादिरूप व्यभिचारी संस्कारतया रह सकते हैं। आगे दिये जाने वाले व्यञ्जनादि के दृष्टान्त में व्यञ्जनादि के बीच किसी रस की स्थायीभाव के समान अनुद्भूतरूप में स्थिति होती है और अन्य की व्यभिचारी

के समान उद्भूतरूप में। इसलिए विभावादि से परिपुष्ट स्थायी ही रस है। वह उभयगत है। मुख्यरूप से अनुकार्य रामादि में रहता है तथा तद्रूपतानुसन्धान के कारण गौणरूप में नटादि में भी रहता है। 'लोचन' में इसे इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

'पूर्वावस्थायां यः स्थायी स एव व्यभिचारि सम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरसः।' लोचन, पृ० १९४।

भट्टलोल्लट की उक्त व्याख्या से उनके सिद्धान्त की निम्न बातों का पता चलता है—

विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी का स्थायीभाव से संयोग होने पर रस की उत्पत्ति होती है।

स्थायीभाव तथा रस में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। उपचिति और अनुपचिति मात्र का भेद है। उपचित होने पर स्थायी रस कहा जाता है, अन्यथा भाव।

विभाव स्थायीभाव की उत्पत्ति के कारण हैं।

अनुभावों का सम्बन्ध रस से न होकर भावों से है।

स्थायीभाव चित्तवृत्तिरूप हैं। संचारी या व्यभिचारीभाव भी चित्तवृत्तिरूप होने पर भी स्थायी के संस्काररूप में मान्य हैं।

स्थायी अनुद्भूत (अव्यक्त) होते हैं जब कि व्यभिचारी व्यक्त।

रस व्यक्तिनिष्ठ है। यह अनुकार्य रामादि की वृत्ति है, किसी और की नहीं। वेषादि के कारण मञ्च पर आने वाला नट भी तद्रूप में आता है। अतएव प्रेक्षक उसमें रामबुद्धि करके उसकी समस्त क्रियाओं को राम की ही क्रियाएँ समझ लेता है।

रामादि रूप का आरोप होने से नट में भी रसोत्पन्न होता है। नाट्य-प्रयोग में प्रेक्षक बाह्य होता है। स्थायी की उपचिति रस है, का यह सिद्धान्त प्राचीन आचार्य दण्डी आदि के ही रस के समान है। दण्डी भी कहते हैं। 'रति ही पराकोटि को पहुँचकर श्रृङ्गार-रस बन जाती है। क्रोध ही परमकोटि पर पहुँच कर रौद्र बन जाता है।' चूँकि नाट्य में रामादि का श्रृङ्गार-रस प्रदर्शित किया जाता है इसलिए इसे नाट्य-रस कहते हैं। डॉ० कान्तिचन्द्र के शब्दों में, 'भट्टलोल्लट का दृष्टिकोण तत्त्वतः व्यावहारिक है। रस के विधायक तत्त्व किस प्रकार से मिलकर रंगमञ्च पर विषयरूप रस को उत्पन्न करते हैं, इसका विश्लेषण ही उनका प्रयोजन है। अतएव उनके मत में विभावादि की अनेकता में एकताजनक स्थायीभाव ही विषयरूप रस बन जाता है।

इस मत पर शङ्कुक ने आठ आपत्तियाँ उठायी हैं : १. लिङ्ग के अभाव में लिङ्गी का ज्ञान असम्भव है। बिना धूम के पर्वत पर अग्नि का ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव जब तक स्थायी का विभावादि से योग नहीं होगा उसका बोध होना असम्भव होगा। योग होने पर तो रस का ही बोध होगा स्थायी का नहीं; क्योंकि वह उपचित ही नहीं होगा। २. और यदि यह मान भी लिया जाय कि स्थायीभाव अपने ही

उत्पन्न होते हैं तो उनके प्रथम विवेचन का प्रसङ्ग उपस्थित होगा जबकि भरत ने पहले रस का विवेचन किया है, बाद में भावों का। ३. भरत ने रस एवं स्थायी दोनों के विभावादि एक ही कहे हैं। आप मानते हैं कि, स्थायी का परिपोष होने पर रस होता है। स्थायी की उत्पत्ति के कारण ही उसके परिपोष के भी कारण हैं कहना सम्भव नहीं है, जबकि भरत उन्हें एकरूप ही मानते हैं। ऐसी स्थिति में भरत का लक्षण ही दुष्ट हो जायगा। ४. स्थायी को ही रस मानने से अवस्थानुसार रस में भी मन्दतम-तर आदि अनेक रूप उपस्थित हो जायँगे। और यदि यह मानें कि अति दीप्त स्थायी रस होता है तो, ५. भरत द्वारा प्रतिपादित हास्य के छह भेदों में आपत्ति आ जायगी; क्योंकि वे तरतम भाव पर ही अवलम्बित हैं। ६. भरत ने काम की दस अवस्थाएँ बतायी हैं, वे भी तरतम भाव पर ही आधृत हैं। तरतम भाव से इनमें असंख्य रस एवं भाव की कल्पना करनी होगी। ७. स्थायी का तीव्रत्व ही रस है, का विपर्यय भी पाया जाता है, शोक प्रारम्भ में तीव्र होता है, किन्तु समयानुसार क्रमशः क्षीण होता जाता है। ८. क्रोध, उत्साह तथा रति आदि भावों का परिपोष सामग्री के अभाव में ह्रास भी देखा जाता है।

इन आपत्तियों के अतिरिक्त उक्त मत के प्रति 'लोचन' में भी कुछ आपत्तियाँ उपस्थित की गयी हैं। 'चित्तवृत्ति प्रवाहधर्मी होती है। भट्टलोल्लट ने रस की उपचिति रामादि तथा तदारोप से नट में माना है। एक चित्तवृत्ति से दूसरी चित्तवृत्ति का परिपोष कैसे हो सकता है? विस्मय, शोक आदि भाव क्रमशः परिपुष्ट ही नहीं होते उनका अपचय भी होता रहता है। अतएव रस को अनुकार्यगत नहीं कहा जा सकता। यदि अनुकर्त्ता नटगत रस की स्थिति मानें तो वह भी नहीं हो सकता; क्योंकि रसान्वित होने के कारण नाटक में प्रयुक्त लय, ताल आदि की उसको कोई अपेक्षा नहीं रहेगी। और सबसे बड़ी बात कि सामाजिक को इससे क्या उपलब्ध होगा?'—'प्रवाहधर्मिण्यां चित्तवृत्तौ चित्तवृत्तेः चित्तवृत्त्यन्तरेण कः परिपोषार्थः? विस्मयशोकक्रोधादेश्च क्रमेण तावन्त परिपोष इति नानुकार्ये सः। अनुकर्त्तरि च तद्भावे लयाद्यननुसरणं स्यात्...।' (लो०, पृ० १९४-५) वस्तुतः भट्टलोल्लट के मत की निष्पक्ष समीक्षा डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने 'स्वतन्त्रकलाशास्त्र', प्रथम भाग, पृ० ७३–७५ पर की है। उनके अनुसार रस-सूत्र के प्रथम व्याख्याता ने अपने सिद्धान्त की स्थापना प्रदर्शनगत रस के आधार पर की थी। दर्शक के अन्तःकरण में उद्भूत रस उसका विषय नहीं था। उचित ढंग से विचारने पर उनकी परिभाषा दर्शक के अन्तःकरण में उद्भूत रस पर भी लागू हो सकती है। प्रथम मत के प्रति विमति का कारण नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को दर्शन में उलझा देना था। अभिनवगुप्त इससे परिचित थे। अतः भट्टलोल्लट के मत की आलोचना उन्होंने स्वयं नहीं की। वस्तुतः शङ्कुक द्वारा उपस्थित की गयी आपत्तियाँ उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितनी कि लोचनकार द्वारा उठायी गयी लोचन की। रस का सामाजिक के लिए क्या उपयोग है और उसकी अनुभूति का माध्यम क्या है? का विवेचन न करना ही प्रथम मत का प्रधान दूषण है।

आचार्य शङ्कुक का मत अनुमितिवाद के नाम से विख्यात है। उनके अनुसार— 'कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम से न प्रतीत होने वाले हेतुरूप विभाव, कार्यरूप अनुभाव, तथा सहचारीरूप व्यभिचारी भावों से मुख्यतः रामादिगत तथा अनुकरण करने के कारण अनुकर्ता नट में स्थित रत्यादि स्थायी भावों की अनुमिति ही रस है। स्थायी अनुकरणरूप है और अनुकरणरूप होने के कारण ही दूसरे नाम 'रस' से व्यपदिष्ट होता है। यहाँ विभावादि का स्थायी से संयोग है गम्यगमक रूप। विभावादी गमक हैं स्थायी गम्य। रस की यह अनुमिति लौकिक अनुमान की भाँति नीरस नहीं होती प्रत्युत् वस्तु के सौन्दर्य से इसमें आस्वाद्यता आ जाती है।

विभाव काव्य के द्वारा नट को ज्ञात होते हैं। अनुभाव शिक्षा से प्राप्त करता है। व्यभिचारी अपने कृत्रिम अनुभाव से उत्पन्न होते हैं। किन्तु स्थायी तो काव्यबल से भी नहीं प्राप्त होता। काव्य में उपस्थित 'रति', 'शोक' आदि शब्द उन भावों के अविधान मात्र होते हैं न कि वाचिक अभिनव रूप में उनकी प्रतीति होती है। अवगमन शक्ति शब्द की वाचकशक्ति से भिन्न होती है। अभिनय अवगमन शक्ति है। अतएव काव्योपात्त रत्यादि भावों का बोध काव्यस्थ शब्दों से न होकर अभिनय द्वारा प्रतीत होता है। काव्यवर्णित विभाव, नट की शिक्षाभ्यास से उपार्जित अनुभाव तथा अभिनयार्जित व्यभिचारी स्थायी के लिङ्ग हैं। स्थायी लिङ्गी है। लिङ्गी का लिङ्ग के द्वारा गम्य-गमकभाव से बोध होता है। इसीलिये भरत ने अपने सूत्र में 'स्थायी' का उल्लेख नहीं किया है। अनुमित यह स्थायी रामादि-गत स्थायी का अनुकार होता है। इसलिये रस अनुकरण रूप होता है। इसलिये रस को स्थायिरूप या उससे जन्य मानना जैसा कि भट्टलोल्लट ने माना है, अयुक्त है।

प्रश्न हो सकता है कि मिथ्या या कृत्रिम अनुभावादि से मिथ्या अभिनय द्वारा उपस्थित रस भी मिथ्या ही होगा ? इस पर श्री शङ्कुक का उत्तर है कि मिथ्याज्ञान से भी फलप्राप्ति देखी जाती है। इसके लिए उन्होंने मणिप्रभा और दीपप्रभा का उदाहरण दिया है। दूर से एक व्यक्ति मणि की लौ को देखता है, दूसरा दीप की लौ को। दोनों ही दोनों प्रभाओं को मणि की प्रभा समझकर प्राप्त करने के लिये दौड़ते हैं। दोनों ने ही प्रभा देखी थी। दोनों का ज्ञान मिथ्या ज्ञान था, पर अर्थक्रिया अर्थात् फलप्राप्ति में भेद हो गया। जो मणिप्रभा को मणिप्रभा समझकर दौड़ा उसे तो मणि प्राप्त हुई, किन्तु जो दीपप्रभा को मणि मानकर दौड़ा उसे प्राप्ति नहीं हुई। मणिप्रभा को मणि समझना संवादी भ्रम है। संवादी भ्रम के कारण ही वास्तविक रामरति का कृत्रिम विभावों से भी बोध होता है। इस तथ्य को और भी स्पष्ट करने के लिये शङ्कुक ने चित्रतुरग का दृष्टान्त दिया है। रङ्ग, हरताल आदि से बने चित्र में तुरग को देखकर जो प्रतीति होती है उसे न सम्यक्, न मिथ्या, न संशय और न ही सादृश्य प्रतीति कह सकते हैं; उसी प्रकार नटरूप राम को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि 'यह राम है या यही राम है' क्योंकि राम के रूप में हम नट को देखते हैं अतः यह प्रतीति

सम्यक् नहीं कही जा सकती। नट में होने वाली राम की प्रतीति मिथ्या भी नहीं कही जा सकती। मिथ्या प्रतीति उसे कहते हैं जिसमें उत्तर काल में बाध हो। नट राम के लिए नाटकपर्यन्त ऐसी प्रतीति नहीं होती। और न ही यह कहा जा सकता है कि यह नटराम राम के समान है। नाटक देखते समय नटराम में यह सन्देह भी नहीं होता कि 'यही राम है अथवा नहीं' अतएव संवादी भ्रम के कारण ही नट में राम की प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, सादृश्य तथा संशय इन सभी प्रतीतियों से विलक्षण होती है। शङ्कुक के मत का सार निम्न है—

विभाव स्थायी भाव के कारण हैं, अनुभाव कार्य और सञ्चारीभाव सहचारी भाव हैं।

स्थायी भाव की प्रत्यक्ष प्रतीति असम्भव है। विभावादि के अभाव में उसका स्वतन्त्र बोध असंभव है। इसीलिये सूत्रकार ने भिन्न विभक्तिक भी स्थायी का सूत्र में उल्लेख नहीं किया।

नटगत विभावादि सामग्री कृत्रिम होती है।

इस सामग्री से लिङ्ग-लिङ्गी भाव से स्थायी की अनुमिति की जाती है।

अनुमित स्थायी नट का नहीं होता। यह रामादिगत स्थायी का अनुकरण मात्र है।

अनुमित स्थायी अनुकरण रूप होने से ही रस नाम से व्यपदिष्ट होता है।

नट में रामत्व की प्रतीति 'चित्रतुरगन्याय' से होती है। यह प्रतीति मिथ्या होते हुए भी संवादिभ्रमरूप है। अतएव इससे सत्य ही रामरति का बोध होता है।

श्री शङ्कुक के इस मत को आधुनिक विचारक अनुमितिवादी दृष्टि न कहकर अनुकृतिवादी कहना अधिक ठीक समझते हैं। वस्तुतः पश्चिमी कलाशास्त्र में 'अनुकृति' को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस आधार पर शङ्कुक के सिद्धान्त को भी अनुकृति-सिद्धान्त कहा जाता है। तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह नाम गलत भी नहीं लगता। शङ्कुक ने अनुकृति को ही रस कहा है। अभिनव भारती में साधनों के लिये 'लिङ्ग' और प्रतीति के लिये 'प्रतीयमान' शब्द प्रयुक्त है। मात्र इतना ही अनुमिति के पक्ष में है अन्य सब अनुकृति के। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने इस सिद्धान्त का न्याय दर्शन की दृष्टि से विशद विवेचन किया है।

विचार करने पर प्रथम मत से इसमें काफी समानता दिखायी पड़ती है। प्रथम मत में स्थायी को विभावों से उत्पन्न, अनुभावों से प्रतीत एवं सञ्चारी से परिपुष्ट बताया गया है, शंकुक ने इन्हें क्रमशः कारण, कार्य एवं सहचारी बताकर केवल शब्दावली मात्र का भेद रखा है। स्थायी को दोनों ही मुख्यतः अनुकार्य में स्थित मानते हैं। प्रथम मत में स्थायी को विभावादि से उपचित होने पर रस कहा गया है, दूसरे में

अनुकृत स्थायी को। यहाँ भी शब्दावली का अन्तर है। उभयत्र सामाजिक को रस-प्रतीति नट के अभिनय से ही होती है। शंकुक की कुछ धारणा में प्रथम मत के प्रतिकूल भी पड़ती है। शंकुक ने यह स्पष्ट किया कि स्थायी की विभावादि के अतिरिक्त स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। स्थायी की अनुभूति को उन्होंने रसानुभूति से सर्वथा भिन्न एवं विलक्षण बताया। रसानुभूति को उन्होंने वास्तविक अवास्तविक ज्ञान के मिश्रित दो परस्पर विरुद्ध बुद्धियों की प्रतीति को स्वीकार किया। रस को दार्शनिक क्षेत्र में घसीट दिया, जिससे उसमें गूढ़ता का समावेश होना स्वाभाविक था। सबसे बड़ी बात शङ्कुक के विवेचन पर चित्रकलाजन्य रसानुभूति का प्रभाव दिखायी पड़ता है।

श्री शङ्कुक के उक्त मत पर अभिनव गुप्त ने अपने उपाध्याय भट्टतौत के मुख से आक्षेप प्रस्तुत किये हैं। प्रधान आक्षेप इस प्रकार हैं। आपका यह कहना कि 'रस अनुकरण रूप है' तो यह कथन सामाजिक की प्रतीति के अभिप्राय से अथवा नट के अभिप्राय से या वस्तुस्थिति के विवेचक सामाजिक के अभिप्राय से अथवा भरतमुनि के पक्ष का आश्रय लेने के अभिप्राय से है? अनुभावादि कृत्रिम होने से मिथ्या होते हैं, मिथ्या लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान भी मिथ्या होगा? रामादि की प्रतीति सम्यक् आदि भी हो सकती है? विभाव काव्यबल से जाने जाते हैं, कैसे? भरतमुनि ने कहीं भी नहीं कहा है कि 'स्थायी का अनुकरण रस है?' इन प्रश्नों का समाधान डॉ॰ पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ में सविस्तार प्रस्तुत किया है, वहीं द्रष्टव्य है।

भट्टतौत ने शङ्कुक का खण्डन करके अपने अभीष्ट मत की स्थापना की थी जो अभिनव भारती में यत्र-तत्र दिया गया है। इसका विस्तृत विवेचन श्री गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय साहित्यशास्त्र' में प्रस्तुत किया है। इन मतों के अलावा कुछ अपूर्ण मत जो 'लोचन' में पाये जाते हैं का भी उन्होंने वहाँ सङ्केत किया है—'विभावादि से नटगत स्थायी अनुमित होता है। नट रामादि से अभिन्न है, ऐसा मानकर प्रेक्षक इस अनुमिति का आस्वाद लेता है। जिस प्रकार रंगों के मिश्रण से भित्तिस्थ अश्व का आभास होता है उसी प्रकार अभिनय सामग्री द्वारा नट में रामादि के स्थायी का आभास होता है। यह आभास ही आस्वाद्य एवं रस है।'

(लोचन, पृ० १९५–६)

इसके पूर्व कि भट्टनायक आदि के सिद्धान्त का उल्लेख किया जाय, ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन के विचारों को जान लेना आवश्यक है। रस अभिव्यञ्जित होता है का सिद्धान्त ध्वनिकार ने आविष्कृत किया था, अभिनव ने उसे और भी आगे बढ़ाया अतः ध्वनिकार को समझना आवश्यक है। उनका मत है 'काव्य की आत्मा ध्वनि है।' ध्वनि की स्थापना के पूर्व उन्होंने संभावित पाँच ध्वनि-विरोधियों का खण्डन किया है। उनमें तीन यत्न तो अलङ्कारवादियों के हैं जो प्रथम कोटि में आते हैं। जो अभाववादी भी कहे जाते हैं। दूसरे भी आते हैं भाक्त या लक्षणावादी तथा तीसरे में ध्वनि के अनिर्वचनीयत्तावादी। ध्वनिकार ने अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या से अतिरिक्त

शब्द की चौथी शक्ति व्यञ्जना की स्थापना की। उनके अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है। ध्वनि त्रिधा होती है—रस, अलङ्कार, वस्तु। अन्तिम दो वाच्य भी हो सकते हैं किन्तु रस स्वप्न में भी वाच्य नहीं होता, वह सदैव व्यङ्ग्य ही होता है। त्रिधा आत्मा में प्रधानतया काव्यात्मा रस ही है। अतः उनका पूरा ग्रन्थ ही रस की व्याख्या के लिए लिखा गया है—'रसादिरूपव्यंग्यतात्पर्यमेवैषां इति यत्नोऽस्माभिः न ध्वनि-प्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन।' ध्वनिकाव्य के लिए वह लिखते हैं, कि जहाँ शब्दार्थ, गुण, अलङ्कार परस्पर में ध्वनि की अपेक्षा से रसादि का अनुकरण करते हुए वर्तमान रहते हैं वही ध्वनि का विषय है। संसार की चेतन या अचेतन कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो अन्ततः विभावता को न प्राप्त कर जाये। उनके अनुसार काव्योपात्त शब्दार्थ तथा नाट्योपस्थित अभिनय से प्रदर्शित विभावादि से रस की व्यञ्जना होती है। कवि का एकमात्र उद्देश्य होता है, रसाभिव्यक्ति—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः॥

और रसादि से परिपूर्ण रचना कभी क्षीण नहीं होती—

रसभावादि सम्बद्ध यद्यौचित्यानुसारिणी।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादि भेदिनी॥
वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामपि॥

ध्वनि-सिद्धान्त का विस्तार 'ध्वन्यालोक' में ही देखना चाहिए। ध्वनिकार ने रस को व्यङ्ग कहा और यह ध्वनि का सिद्धान्त रस के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी आविष्कार सिद्ध हुआ जिसकी प्रतिष्ठा आचार्य अभिनवगुप्त एवं मम्मट आदि ने की।

अभिनवगुप्त ने सांख्यों के अनुसार रस का स्वरूप क्या होता है इसका भी विवेचन किया है। सांख्य की दृष्टि से रस सुख-दुःखरूप है। रस की सामग्री विभावादि पूर्णतः बाह्य है। यह विषय-सामग्री त्रिगुणात्मक है अतः सुख-दुःख स्वभाव वाली है। सुख-दुःखस्वरूप यह विषय-सामग्री ही रस कही जाती है। उस सामग्री में विभाव दलस्थानीय हैं। अनुभाव-व्यभिचारी संस्काररूप (अंकुररूप) होते हैं। आचार्य विश्वेश्वर यहाँ दल को दाल एवं संस्कार को छौंक मानते हैं, यही मत लेकर अनुवाद भी किया गया है। इन तीनों की सामग्री से सुख-दुःखात्मक अन्तर स्थायी उत्पन्न होता है। सुख-दुःखात्मक रस की सामग्री बाह्य है अतः रस भी बाह्य सामग्री में ही अवस्थित रहता है।

इस मत का अभिनवगुप्त ने खण्डन प्रस्तुत किया है। भरत ने लिखा है—'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः।' अर्थ है कि लौकिक स्थायीभावों को रसता प्राप्त

कराने का उपक्रम करेंगे और सांख्यशास्त्री स्थायी को बाह्य सामग्रीजन्य मानते हैं। अतएव उनके अनुसार सूत्र का वाच्य अर्थ न लेकर उपचार या गौण अर्थ, लक्षणा-लभ्य अर्थ लेना होगा। जिसका अर्थ हुआ ग्रन्थ से विरोध। अतएव यह मत विचार योग्य भी नहीं है। और यदि सुख-दुःख स्वभाव बाह्य विषय-सामग्री को ही रस माना जाय तो समकाल में ही एक को सुख, दूसरे को दुःख हो सकता है। यह हुई रसप्रतीतिगत विषमता। इस दोष के कारण भी यह मत उपादेय नहीं है।

वस्तुतः वाचस्पति आदि सांख्यशास्त्री यह मानते हैं कि, रसानुभव का कारण स्थायीभाव एवं विभावादि प्रदर्शन का विषयरूप में ज्ञान है। पर यह अनुभव सामान्य लौकिक प्रतीतियों से भिन्न होता है। सांख्यकारिका में रस-विषयक वार्ता दो स्थल पर आयी है। एक स्थान पर अभिनेता तथा अभिनेय मूल नायक के सम्बन्धस्वरूप को स्पष्ट करने के लिए और। यहाँ यह बताया गया है कि जैसे एक सूक्ष्म शरीर मानव या पशु हो जाता है उसी प्रकार अभिनय करने वाले का अभिनेता ही मूल नायक हो जाता है। अन्यत्र बताया गया है कि रसानुभव के क्षण दर्शक रजस एवं तमोगुण से रहित होता है। इसलिए उस समय वह समस्त लौकिक प्रेरणाओं से रहित होता है। अतएव दुःखानुभव के समय भी उसे रसानुभव में कोई खेद नहीं होता।[1]

भट्टनायक कश्मीर के शासक शंकरवर्मन (८८३–९०२ ई०) के समकालीन थे। अतः इनका समय अभिनवगुप्त से कुछ ही वर्ष पूर्व रहा होगा। उनका सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक वातावरण भी अभिनवगुप्त जैसा ही रहा होगा। रस की उनकी व्याख्या के पूर्व दो सिद्धान्त प्रकाश में आ चुके थे—(१) आनन्दवर्धन द्वारा किया गया ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन और (२) उत्पलाचार्य द्वारा स्वरचित ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका की व्याख्या-विवृति। परन्तु भट्टनायक इन दोनों से ही प्रभावित नहीं हुए। प्रथम के खण्डन के लिए उन्होंने 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ लिखा जो अभी तक अनुपलब्ध है। उसके सिद्धान्तों का उल्लेख अभिनव-भारती, लोचन एवं काव्यप्रकाश आदि में पाया जाता है।

भट्टनायक ने अभिव्यक्तिवाद के साथ-साथ उत्पत्ति एवं प्रतीतिवाद इन तीनों सिद्धान्तों का खण्डन किया। वह कहते हैं कि रस प्रतीत या अनुमित नहीं होता। प्रतीत होने की दशा में वह या तो स्वात्मगत अनुमित होगा या परगत। यदि उसकी प्रतीति परगत होगी तो सहृदय उसके प्रति उदासीन होगा। उससे उसका कोई लाभ नहीं होगा। यदि कहें कि रस की प्रतीति या अनुमिति आत्मगतत्वेन होती है तब तो यह प्रतीति सामाजिक के मन में होनी चाहिए और ऐसी अवस्था में करुण आदि में उसे दुःखी होना पड़ेगा जबकि ऐसा होता नहीं। अतएव रसादि की प्रतीति स्वात्मगत भी नहीं हो सकती। इसके अनेक कारण हैं। सीता आदि विभावदर्शक के आत्मगत रस का विभाव नहीं बन सकते, प्रथम कठिनाई है। सहृदय सामाजिक की

---

१. डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, स्वतन्त्रकलाशास्त्र, भाग १, पृ० ९८-१००।

वासन। में इनके विभाव बनने के लिए स्वकान्तात्व का साधारणीकरण कारण हो सकता है यदि यह कहें तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि, सीता आदि देवियों का कान्तात्वरूप में साधारणीकरण होना असंभव है। इसमें उनके प्रति दर्शक की पूज्यत्व भावना बाधक होगी। ऐसे स्थानों पर अपनी कान्ता का स्मरण हो आयेगा यह भी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार वीर-रस में भी साधारणीकरण असंभव है। राम आदि व्यक्ति असाधारण पुरुष थे। उनका साधारणीकरण असंभव है। सेतुबन्धन, समुद्रलङ्घन आदि अलोकसामान्य उनके कृत्यों का सहृदय के लिए विभावरूप में साधारणीकरण कैसे हो सकता है? यदि यह कहें कि उत्साहयुक्त रामादि की स्मृति ही इसमें कारण हो सकती है तो यह भी नहीं कह सकते। स्मृति तो किसी पूर्वानुभूत वस्तु की होती है। रामादि के उत्साह के विषय में ऐसी कोई बात नहीं है। यदि यह कहें कि हम राम का चरित्र पढ़ते हैं, उनके चरित्र का निरन्तर ध्यान रहने के कारण अनुमान आदि से उनकी प्रतीति कर लेते हैं तो ऐसे में भी रसानुभूति संभव नहीं दीखती। यदि यह मान लिया जाय कि किसी के उत्साह आदि को पढ़ने या देखने से रसोत्पत्ति होती है तब तो उसमें लोक को भी प्रत्यक्ष की भाँति आनन्द आना चाहिए? और शृंगार में भी दो युगल प्रेमियों के प्रणय-व्यवहार को देखकर शृङ्गार-रस का आनन्द होना चाहिए? प्रत्युत् होती है मन देखकर लज्जा, जुगुप्सा आदि की जो प्रेक्षक की अपनी आनन्द वृत्ति से इतर वृत्ति होती है। इसलिए रस-प्रतीति को न तो अनुभवरूप ही कहा जा सकता है, न स्मृतिरूप ही।

रस के स्वगत या परगतरूप में उत्पत्ति-पक्ष के लिए भी ये ही दूषण दिये जा सकते हैं। रह गया अभिव्यक्ति-पक्ष। अभिव्यक्ति पूर्व से स्थित ही किसी वस्तु की होती है। रस तो पहले से उपस्थित नहीं रहता। और यदि मान भी लिया जाय कि वह शक्ति-रूप में पूर्व से ही उपस्थित रहता है तो उसकी अभिव्यक्ति के साधनों में तर-तमभाव होने से उसकी अभिव्यक्ति में कम या आधिक्य दोष आ जायेगा। और स्वगत-परगत की बात भी है जो पूर्ववत् दोषावह है।

उक्तमतों का खण्डन करने के बाद भट्टनायक अपना मत उपस्थित करते हैं। एतदर्थ उन्होंने अभिधा के अतिरिक्त शब्द की दो अन्य शक्तियाँ भी मानी हैं—भाव-कत्व, और भोग या भोजकत्व। यह तो स्पष्ट ही है कि काव्यगत शब्द तथा नाट्यगत अभिनय का पर्यवसान रस में होता है। प्रत्येक काव्यप्रयुक्त शब्द रसोत्पत्ति का कारण नहीं होता। अतएव काव्यगत शब्दों का एक विशिष्ट व्यापार होना चाहिए जो रसोत्पत्ति के अनुकूल हो। वह व्यापार विभावादि का साधारणीकरण है। परन्तु व्यक्तिनिष्ठ विभावादि का साधारणीकरण स्वयं नहीं हो जाता। उसके लिए कारण होता है काव्यगत निर्दोषता तथा गुणालंकार का उपादान और नाट्य में चार प्रकार का अभिनय। अब भट्टनायक के मत को समझा जाय। काव्य या नाट्य में अभिधा या अभिनय के माध्यम से रामादि वृत्त उपस्थित किये जाते हैं। उससे प्रेक्षक या सहृदय पाठक को

कोई लाभ नहीं होता, किन्तु अभिधा के अतिरिक्त शब्द की दूसरी शक्ति भावकत्व व्यापार से रामादि का सहृदय की चित्तवृत्ति से साधारणीकरण हो जाता है। रामादि विभावों का साधारणीकरण होता कैसे है? वस्तुतः काव्य में स्थित यह साधारणीकरण-व्यापार ही भावना है। भावना का मीमांसा में अर्थ किया गया है—भवितुर्भवनानुकूलो भावकत्वव्यापारविशेषः। होने वाली वस्तु के प्रति प्रमाता का अनुकूल व्यापार ही भावना है। भावना का अर्थ है भावकत्व। काव्य रसों का भावक है। काव्य में भावकत्व व्यापार रहता है। लोचन में भी कहा गया है—'तच्चैतत् भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत् काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम।' विभावादि के साधारणीकरण द्वारा रस भावित होता है अर्थात् रामादि की चित्तवृत्ति से प्रमाता की चित्तवृत्ति साधारणीकृत हो जाती है। इस साधारणीकरण में एक कारण और है मोह या तमस् गुण का तिरोभाव। साधारणीकरण की दशा में रजस् गुण निष्क्रिय हो जाता है। संकल्पजन्य सभी क्रियाएँ रजोगुण से ही सम्पन्न होती हैं और मोह तमस् से उत्पन्न होता है। ज्ञान और आत्मावबोध का कारण सत्त्व है। सत्त्वगुण की प्रधानता में रजोगुण एवं तमोगुण क्षीण हो जाते हैं। जिसके कारण सीतादि के विषय में होने वाला संकल्प-विकल्प तो क्षीण होता ही है, अपना स्वपर का जो मोह है वह भी समाप्त हो जाता है, और यह होता है भावकत्व व्यापार से। इस प्रकार जब रस भावित होता है तब सहृदय उसका विशेषरूप से साक्षात्कार करता है। यह साक्षात्कार ही भोग है। भावना का विषय बनी हुई रामादि की चित्तवृत्ति का साधारणीकरण हो जाने पर सहृदय प्रमाता का ताटस्थ्यभाव समाप्त हो जाता है और वह उसका भोग करता है। यह रसभोग ही 'भोगीकरण' या 'भोगकृत्व' कहा जाता है। यह रसभोग लौकिक अनुभव या अनुभूत चित्तवृत्ति का स्मरण नहीं है। वह हृदय की अवस्था का एक रूप है जो द्रुति, विस्तार और विकास रूप होती है। रजोगुण से द्रुति, तमोगुण से विस्तार एवं सत्त्वगुण से हृदय का विकास होता है। भोग की इस अवस्था के विषय में काव्यप्रकाश संकेत में कहा गया है—'यदा हि रजसो गुणस्य द्रुतिः, तमसो विस्तारः, सत्त्वस्य विकासः तदा भोगः स्वरूपं लभते।' भोग-दशा में सत्त्वगुण का प्राधान्येन उद्रेक होता है। इसलिए हृदय की अवस्था रजस् एवं तमस् के वैचित्र्य से मिश्रित परम सत्त्वमयी होती है। सत्त्व की इस दशा में हृदय को विश्रान्त देने वाला लोकोत्तर आत्मचैतन्यस्वरूप घनानन्द का अनुभव होता है। हृदय की विश्रान्ति में किसी और दूसरी वस्तु का ज्ञान नहीं रह जाता। यह दशा ही सत्त्व एवं आनन्द की होती है। यह भोगानन्द आत्मानन्द-सदृश होता है—ब्रह्मास्वादसविधवर्ती। अभिनव-भारती में भट्टनायक की दी गयी रस-सम्बन्धी कारिका निम्न है—

अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः॥
भावनाभाव्य एषोऽपि श्रृङ्गारादि गणो मतः।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः॥

सामान्यतः लौकिक अनुभव तीन प्रकार के होते हैं—सुख, दुःख तथा मोह। इन्हीं के आधार पर जीवन की तीन अवस्थाएँ भी होती हैं—ज्ञान, क्रिया और जड़ता। लौकिक जीवन में प्रथम अनुभव की भाँति दूसरा ज्ञान आदि शुद्धरूप में न होकर इन दोनों का मिला-जुला रूप ही दिखायी पड़ता है। सुखादि का मूल हेतु है त्रिगुण। जो अविद्या-की सृष्टि भी करते हैं। जीवन सदैव एक गुण का उद्रेक रहता है। सत्त्व के उद्रेक में आनन्द, रजस् के उद्रेक में दुःख और तम के उद्रेक में अज्ञान का प्राधान्य पाया जाता है। जब एक गुण प्रधान रहता है तो अन्य दो निर्बल पड़ जाते हैं। वेदान्त प्रतिपादित ब्रह्म भी अविद्या से आबद्ध है, किन्तु यह अविद्या सभी अविद्याओं की समष्टि तथा अनुभवयोग्य हर वस्तु का कारण है। समष्टिरूपा अविद्या में भी तीनों गुण वर्तमान रहते हैं, किन्तु इसमें प्रधानता शुद्ध रूप से सत्त्व की ही होती है। उस समय रजोगुण पूर्णतः निष्क्रिय रहता है और तमोगुण सत्त्व के विपरीत होने के कारण स्वतः निष्क्रिय हो जाता है। सत्त्वप्रधान अविद्या ईश्वर का आनन्दमय-कोश कही गयी है। अतएव वेदान्त में सुख से भिन्न आनन्द ब्रह्म से सम्बन्धित पूर्णतः शुद्धसत्त्व प्राधान्य है। तद्वत् आनन्द रस का भी है। यह रस का आनंन्द जिसमें सत्त्व का प्राधान्य रहता है ब्रह्मानन्द के तुल्य ही होता है, तद्रूप नहीं। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने सांख्य, योग एवं वैशेषिक सभी मतों से भोग का स्वरूप स्पष्ट कर भट्टनायक के भोग-सिद्धान्त को अशास्त्रीय बताकर उसका खण्डन प्रस्तुत किया है।

भट्टनायक के समय तक कश्मीर में शैवदर्शन पर काफी विचार हो रहा था। शैवदर्शन में निजी अनुभूति को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भट्टनायक के पूर्व के व्याख्या-कार रस की व्याख्या दर्शक की दृष्टि से करते अवश्य थे, किन्तु दर्शक उसमें बाह्य होता है। रसोत्पत्ति या अनुमिति दोनों ही प्रक्रिया में प्रमाता सहृदय की रसानुभूति पर कोई विचार नहीं किया गया था। भट्टनायक की इस दिशा में यह बड़ी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। श्री शङ्कुक का अनुमिति का सिद्धान्त अनुभव से असिद्ध ही नहीं, विरुद्ध भी था जिसकी पहचान भट्टनायक ने की। उनका विवेचन मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधारित रहा है। रस-प्रक्रिया में लौकिक भावानुभूति एवं काव्यानुभूति को उन्होंने ही स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया। साधारणीकरण का सिद्धान्त, जो शुद्ध वैज्ञानिक है, बताकर उन्होंने अभिनव के लिए मार्ग सुगम कर दिया। स्वयं अभिनवगुप्त कहते हैं—

'भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत् किञ्चित्।' लोचन, पृ० १९९।

अभिनवगुप्त ने लोचन में भट्टनायक के सिद्धान्त को अधिक सरल एवं स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया है—'ननूक्तं भट्टनायकेन—रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वात्मगतत्वेन रामादिचरितमयात् काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता, सीतायाः सामाजिके प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत्,

देवतावर्णनादौ तदपि कथम् । न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते । अलोकसामान्यादीनां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः । न चोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते, अननुभूतत्वात् । शब्दादपि तत्प्रतिपत्तौ न रसोपजः । प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ । उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद्दुःखित्वे करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात् । तन्न उत्पत्तिरपि, नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि शृङ्गारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः स्यात् । तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः । तेन न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः । किन्त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात् । तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्त्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंऽशभूता व्यापाराः । तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात्तत्तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलङ्काराणां को भेदः ? वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिञ्चित्करम् । श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम् । तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः, यद्वशादभिधा विलक्षणैव । तच्चैतत् भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम । भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः । स च प्रधानभूतोंऽशः । सिद्धरूपः इति । व्युत्पत्तिर्नामाप्रधानमेवे'ति ।' लोचन, पृ० १९२-३ ।

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त की जितनी भी व्याख्याएँ हुई हैं उनमें सबसे अधिक प्रौढ़ एवं मान्य व्याख्या अभिनवगुप्त की मानी जाती है। अभिनवगुप्त के नाम से, एक शाक्तभाष्यकार जिनका निवास कामरूप बताया जाता है, भी उपलब्ध होते हैं। कतिपय विद्वान् इन अभिनवगुप्त को तथा कश्मीरी शैव अभिनवगुप्त को अभिन्न बताते हैं, किन्तु शाक्तभाष्यकार अभिनवगुप्त का समय लगभग आठवीं शती है जबकि हमारे प्रतिपाद्य अभिनव का समय दशम शती का उत्तरार्द्ध एवं एकादश का पूर्वार्द्ध। अतएव दोनों के समय में लगभग २०० वर्षों का अन्तर है। शैव अभिनवगुप्त का यह काल उन्हीं के द्वारा निर्दिष्ट समय के आधार पर निकाला गया है। अतः दोनों व्यक्तियों को अभिन्न नहीं माना जा सकता।

अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थों में अपना परिचय स्वयं सविस्तार प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार उनके पूर्वपुरुष कन्नौज के निवासी थे। अभिनव से लगभग २०० वर्ष पूर्व इनके पूर्वज अत्रिगुप्त कन्नौज से कश्मीर जाकर बस गये। वस्तुतः इसके पीछे भी एक इतिहास है। तत्कालीन कश्मीर-नरेश ललितादित्य (७२५-७६१ ई०) ने कन्नौज के राजा यशोवर्मा (७३०-७४० ई०) पर आक्रमण कर उन्हें पराजित किया। विद्वान् अत्रिगुप्त की ख्याति ने उन्हें आकर्षित किया था। अतएव राजा ललितादित्य ने ससम्मान उन्हें कश्मीर बुलवाया। बसाया और जीविकाहेतु बड़ी भूसम्पत्ति अर्पित की। परात्रिंशिका विवरण में अभिनवगुप्त स्वयं लिखते हैं—

'अन्तर्वेद्यामत्रिगुप्ताभिधानः प्राप्योत्पत्तिं प्राविशत् प्राग्रजन्मा ।
श्रीकाश्मीरांश्चन्द्रचूडावतारनिःसंख्याकैः पावितोपान्तभागान् ॥'

तन्त्रालोक में स्पष्ट करते हैं—

'निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेशः
तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा ।
कोऽप्यत्रिगुप्त इति नाम निरुक्तगोत्रः
शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्रः ॥
तमथ ललितादित्यो राजा स्वकं पुरमानयत् ।
प्रणयरभसात् काश्मीराख्यं हिमालयमूर्धजम् ॥'

इसी वंश में उनके पितामह वराहगुप्त पैदा हुए जिनके पुत्र थे नृसिंहगुप्त। इन्हें 'चुखुलक' नाम से भी पुकारा जाता था। उनके पिता ही नहीं उनका पूरा वंश ही विद्वदग्रगण्य था। पिता विद्वान् के साथ-साथ परम शैव थे। उनकी माँ भी परम धर्मपरायणा थीं। इन दोनों के सुमधुर-योग के परिणाम थे अभिनवगुप्त, जो उस समय समस्त गुणों से परिपूर्ण माने जाते थे। किन्तु उनका जीवन सुखमय नहीं रहा। बाल्यावस्था में ही माँ चल बसीं। माँ के वियोग में बालक अभिनव का जीवन माँ के वात्सल्यपूर्ण प्यार के अभाव में शुष्क, नीरस एवं वेदनापूर्ण हो गया। पत्नी के वियोग के अधिक दिनों तक न सह सकने के कारण उनके पिता ने भी शीघ्र ही इस संसार-जीवन से विरक्त हो वैराग्य ले लिया, पुत्र की भी परवाह नहीं की—

तारुण्यसागरतरङ्गभरानपोह्य
वैराग्यपोतमधिरुह्य दृढं हठेन। तन्त्रा० ३७।

माँ-बाप के आश्रय में जीवन सुखी-सरस था। उस काल में अभिनव ने सरस साहित्य का अध्ययन भी किया, किन्तु माँ-बाप के अभाव में उनका समग्र स्नेह-स्रोत ही सूख गया। साहित्य से रुचि समाप्त हो गयी और शिव की भक्ति ने सरस हृदय में स्थान बना लिया। लिखते हैं—

'साहित्यसान्द्ररसभोगपरो महेशभक्त्या स्वयंग्रहणदुर्मदमागृहीतः ।
स तन्मयीभूय न लोकवर्तनीमजीगणत् कामपि केवलं पुनः ॥
तदीयसम्भोगविवृद्धये पुरा करोति दास्यं गुरुवेश्मसु स्वयम् ।'

रसभोग में लगे अभिनव को देखकर महेशभक्तिरूपी नायिका ने उन्मत्त होकर इन्हें स्वयं जा पकड़ा। वह भी सब कुछ भूल तन्मय होकर सम्पूर्ण अन्य लोक-व्यवहार छोड़ दिया और उस नायिका से अधिकाधिक भोग के लिए गुरुओं के घरों में दास्यभाव प्राप्त किया। यह है एक साहित्यिक दार्शनिक का वैराग्य-वर्णन। पत्नी का मुख उन्होंने कभी नहीं देखा। केवल शैवदर्शन के अध्ययन में लग गये। जहाँ कहीं भी जो कोई भी गुरु मिला उन्होंने उससे ज्ञान प्राप्त किया। स्वयं उन्होंने जिनसे जो पढ़ा है उल्लेख किया है—

१. नरसिंहगुप्त (कवि के पिता) से		व्याकरण
२. वोमनाथ	,,	द्वैताद्वैततन्त्र
३. भूतिराजतनय	,,	द्वैतवादी शैवसिद्धान्त
४. लक्ष्मणगुप्त	,,	प्रत्यभिज्ञा के सिद्धान्त
५. इन्दुराज	,,	ध्वनिसिद्धान्त
६. भूतिराज	,,	ब्रह्मविद्या
७. भट्टतौत	,,	नाट्यशास्त्र

इनके अतिरिक्त उन्होंने अन्य तेरह गुरुओं के भी नाम बताये हैं जिनसे कुछ न कुछ अवश्य पढ़ा था। वे हैं—श्रीचन्द्र, भक्तिविलास, योगानन्द, चन्द्रवर, अभिनन्द, शिवभक्त, विचित्रनाथ, धर्मानन्द, शिव, वामन, उद्भट, भूतीश एवं भास्कर। इन सबका वर्णन 'तन्त्रालोक' में मिल जाता है।

अभिनवगुप्त के ग्रन्थों की संख्या लगभग ४१ है। जिनमें ११ कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। वे हैं—१. 'बोधपञ्चदशिका' में शैव-मत के अनुसार शिव और शक्ति के स्वरूप, सम्बन्ध तथा उनके द्वारा सृष्टि आदि का स्वरूप बताया गया है। ग्रन्थ में केवल १५ श्लोक हैं। २. 'परात्रीशिकाविवरण' तन्त्रशास्त्र का ग्रन्थ है। अद्वैतवादी तन्त्रों में ६४ तन्त्र पाये जाते हैं। इनका आठ-आठ के वर्गों में विभाजन है। अन्तिम वर्ग का नाम परात्रीशिका है जिसे परात्रिंशिका भी कहा जाता है। इसका अर्थ—

'त्रीशिका च तिसृणां शक्तीनां इच्छा-ज्ञान-क्रियाणां—ईशिका ईश्वरी।'

३. 'मालिनीविजयवार्तिक' ग्रन्थ 'मालतीविजय' नामक तन्त्र पर लिखा गया वार्तिक-ग्रन्थ है। इसे उन्होंने अपने दो परमप्रिय शिष्यों के अनुरोध पर लिखा था। वे शिष्य थे मन्द्र तथा कर्ण। ४. 'तन्त्रालोक' में अद्वैतवादी ६४ तत्त्वों का विवेचन किया गया है। मुख्यतः इसका प्रतिपाद्य है कौलसिद्धान्त एवं तन्त्रसिद्धान्त। प्रत्यभिज्ञा आदि पर भी इसमें विचार किया गया है। इसमें कुल ३७ आह्निक हैं। जिनमें १४ आह्निक जयरथ की टीका के साथ प्रकाशित हो चुके हैं। ५. तन्त्रसार, ६. तन्त्रवटधानिका, ७. ध्वन्यालोकलोचन, ८. अभिनवभारती, ९. भगवद्गीतार्थसंग्रह, १०. परमार्थसार, ११ ईश्वप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी। अन्तिम ग्रन्थ उत्पलाचार्य द्वारा विरचित 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' पर वृत्तिरूप में है। उत्पलाचार्य ने इस पर विवृति भी लिखी थी। अभिनव ने मूल एवं विवृति दोनों पर टीका लिखी है। मूल की टीका ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी और विवृति पर लिखी, १२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिणी कही जाती है। अन्य रचनाएँ इस प्रकार हैं—

१. क्रमस्तोत्र, २. भैरवस्तोत्र, ३. देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र, ४. अनुभवनिवेदन, ५. अनुत्तराष्टिका, ६. परमार्थद्वादशिका, ७. परमार्थचर्चा, ८. महोपदेशविंशतिकम् , ९. तन्त्रोच्चय, १०. घटकर्परकुलकविवृति। उपर्युक्त ग्रन्थ तो उपलब्ध होते हैं जिनका अभिनवगुप्त ने स्थल-स्थल पर उल्लेख किया है, पर उपलब्ध नहीं होते। वे ग्रन्थ हैं—

१. क्रमकेलि, २. शिवदृष्ट्यालोचन, ३. पूर्वपञ्चिका, ४. पदार्थप्रवेशनिर्णयटीका, ५. प्रकीर्णकविवरण, ६. प्रकरणविवरण, ७. काव्यकौतुकविवरण, ८. कथामुखतिलकम्, ९. लघ्वीप्रक्रिया, १०. भेदवादविवरण, ११. देवीस्तोत्रविवरण, १२. तत्त्वाध्वप्रकाशिका, १३. शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्र, १४. बिम्बप्रतिबिम्बवाद, १५. अनुत्तरतत्त्वविमर्शिणीवृत्ति, १६. नाट्यालोचन, १७. परमार्थसंग्रह एवं १८. अनुत्तरशतक।

जिस प्रकार शिवानन्द में जीवन भर उन्होंने मग्न रहकर अपना समय व्यतीत किया उसी प्रकार अभिनवगुप्त का अवसान भी बड़ा ही स्वाभाविक एवं सुन्दर था। श्रीनगर से गुलमर्ग के बीच एक गाँव है, मगम। यहाँ से ५ मील की दूरी पर आज भी एक 'भैरव-गुहा' पायी जाती है। यहाँ एक छोटा-सा गाँव है—भैरव गाँव। उसी के पास एक छोटी-सी नदी भी बहती है, भैरव नदी। भैरव गुफा, भैरव गाँव, भैरव नदी तीनों ही शैवों के लिए आकर्षण के केन्द्र हैं। कहा जाता है कि इसी गुफा में उन्होंने अपनी अन्तिम समाधि ली। भैरवी के तो वे उपासक थे ही, अतः यह बात कुछ सत्य भी प्रतीत होती है। वहाँ तो यह भी जनश्रुति है कि अभिनवगुप्त अपने अन्तिम समय में इसी गुफा में १२ सौ शिष्योंसहित प्रविष्ट हुए और कभी फिर बाहर नहीं आये, अस्तु।

नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' एवं ध्वन्यालोक पर 'लोचन' अभिनवगुप्त की दो अमर साहित्यिक कृतियाँ हैं। अभिनवभारती लिखने की प्रेरणा तत्कालीन भरतनाट्य-प्रेमी लोगों से उन्होंने पायी थी। जो कुछ भी गुरु भट्टतौत के मुख से सुना था उसे ही उन्होंने लेख में आबद्ध कर दिया—

सद्विप्रतोतवदनोदितनाट्यवेद-
तत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतोः।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठः
संक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति ॥ अ० भा० १।४।

कतिपय आचार्य मानते हैं कि ये अर्थी थे दक्षिण भारत के भरतनाट्य-प्रेमी विद्वान्; क्योंकि दक्षिण में ही न केवल 'अभिनवभारती' की पाण्डुलिपि मिली है प्रत्युत् दक्षिण के मन्दिरों आदि में चित्रित चित्रों में भरतनाट्यशास्त्र के वर्णित करणों और श्लोकों का रूप आज भी विद्यमान है। अभिनवभारती की प्राप्त पाण्डुलिपियों पर दे एवं काणे प्रभृति विद्वानों ने विस्तार से प्रकाश डाला है। जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है 'अभिनवभारती' सहित नाट्यशास्त्र के दो संस्करण प्रकाशित हुए हैं। दोनों ही गा० ओ० सी० बरौदा से प्रकाशित हैं।

अभिनवगुप्त द्वारा व्याख्यात रसस्वरूप को प्रस्तुत करने के पूर्व उनके द्वारा आलोचित पूर्वप्रचलित मतों को जान लेना आवश्यक है। लोचन में उन्होंने रस के विषय में प्रचलित निम्न मतों की ओर संकेत किया है—

१. अनुकार्य में रहने वाले स्थायीभाव से विभावादि का संयोग होने से परिपुष्ट स्थायीभाव ही रस कहा जाता है। रस प्रधानतया अनुकार्य रामादि में रहता है, अनुसन्धान-बल से गौणतया नटादि में भी। यह प्रथम मत लोल्लट का है।

२. अनियत अवस्थारूप स्थायी को उद्देश्य कर विभावादि से संयुक्त यह 'राम सुखी है' इस प्रकार की स्मृति से विलक्षण आस्वादरूप प्रत्यक्षात्मक स्थायी की प्रतीति ही रस है। यह प्रतीति नाट्यमात्र पर आधारित है इसलिए वह इससे अतिरिक्त अन्य किसी भी आधार की अपेक्षा नहीं करती। अनुकार्य से अभिन्न रूप में प्रतीत होने वाले नट में सामाजिक रस का आस्वाद करता है। इसलिए रस नाट्य में ही रहता है, अनुकार्य आदि में नहीं।

३. अभिनयादि सामग्रीजन्य जो स्थायी का अनुकर्ता में आभास होता है वह हरिताल आदि से मिश्रित भित्तिस्थ अश्वावभास के समान है। अलौकिक आस्वादरूप प्रतीति से रस्यमान वही नाट्यावलम्बित होने के कारण नाट्य-रस कहा जाता है। वस्तुतः (२) तथा (३) मत आचार्य शङ्कुक से सम्बन्ध रखता है।

४. विशिष्ट सामग्री से समर्प्यमाण विभाव-अनुभाव ही रस है। यहाँ विभावनी तथा अनुभावनीय स्थायीरूप चित्तवृत्ति के उपयुक्त वासना से वे अनुषक्त रहते हैं। विभाव-अनुभाव से ही यहाँ सामाजिक को चर्वणाविशिष्ट स्वानन्दानुभूति होती है।

५. कुछ लोग शुद्ध अनुभाव को, कुछ लोग शुद्ध विभाव को और कुछ स्थायीमात्र को तथा अन्य व्यभिचारी को, कुछ लोग इनके संयोग को और कुछ लोग अनुकार्य को तथा अन्य लोग इन पूरे के समुदाय को रस कहते हैं। रस स्वशब्दवाच्य होता है। संख्या ४–५ का मत संभवतः प्राचीन आचार्यों एवं उद्भट से सम्बन्धित है।

६. रस न प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न ही अभिव्यक्त होता है, प्रत्युत् अभिधा, भावना तथा भोगीकरण-व्यापार से भुज्यमान रसिक से आस्वाद्य ब्रह्मास्वाद-सहोदर अलौकिक रस है। यह मत भट्टनायक का है।

७. अभिनवभारती में उन्होंने सांख्यों का भी मत दिया है।

८. स्वयं उनका अभिमत रसस्वरूप। इनमें से प्रायः सभी व्याख्यात हो चुके हैं, केवल अन्तिम उनका अभिमत रस-स्वरूप रखना है। यद्यपि अभिनवगुप्त ने अन्य मतों को खण्डन की दृष्टि से उपात्त किया है, किन्तु उनका कहना है कि प्राचीन मतों का संशोधन ही मेरा कल्प है न कि उनका खण्डन, क्योंकि पूर्व प्रतिष्ठित योजनाओं में ही मूल प्रतिष्ठा का फल पाया जाता है—

'तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥' अ० भा०।

इसलिए अभिनव ने भट्टनायक के कतिपय अंशों का खण्डन करते हुए भी उसके कतिपय अंशों को सामान्य परिवर्तनपूर्वक स्वीकार भी कर लिया है।

भट्टनायक की युक्तियों का खण्डन करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि रस का स्वगत-परगत का जो विवेचन है अर्थात् रस परगत ही होता है स्वगत नहीं, यह दूषण तो भट्टनायक आदि के ही पक्ष में हो सकता है, अभिव्यक्ति पक्ष में नहीं। खण्डन-विधि 'लोचन' की अधिक स्पष्ट है अतः उसे ही लिया जाय। 'नोत्पद्यते रसः' का पक्ष तो शङ्कुक के खण्डन से ही दूषित हो जाता है, अतः उसके स्वीकार की बात ही नहीं उठती। किन्तु रस प्रतीत नहीं होता यह कैसे कहा जा सकता है (प्रकारान्तर से यह शंकुक के मत का शोधन है)। रस की प्रतीति सभी पक्ष में अपरिहार्य है। अप्रतीत रस को पिशाच की भाँति क्या कहा जा सकेगा? यह आपका 'भोग' इस संसार में प्रतीति आदि से व्यतिरिक्त है क्या? समझ में नहीं आता। यदि कहें कि यह रसना है तो वह भी तो प्रतिपत्ति ही है। वस्तुतः जिस प्रकार प्रतीतिमात्र सामान्य होने पर भी उपायों की विलक्षणता के कारण प्रत्यक्ष-जन्य, अनुमान-जन्य, आगमोत्थ, प्रतिभानकृत भोगिप्रत्यक्षजा आदि विभिन्न प्रतीतियाँ होती हैं वैसे ही उपायवैलक्षण्य से यह नामान्तर है प्रतीति का ही—प्रतीति, चर्वणा, आस्वाद, भोग आदि। क्योंकि इस प्रतीति के, जो कि हृदय-संवादी होती है, कारण विभावादि लोकोत्तर होते हैं। अतएव यह प्रतीति भी लोकोत्तर होती है।

भट्टनायक की आपत्ति है कि रस अभिव्यक्त नहीं होता। अभिव्यक्त वस्तु को पूर्व से सिद्ध होना चाहिए, किन्तु रस के लिए ऐसी कोई बात नहीं है। अभिनव का कहना है कि जो यह कहा जाता है कि 'रस प्रतीत हो रहा है' यह वैसे ही है जैसे 'ओदनं पचति।' पकाया जाता है चावल किन्तु कहा जाता है 'भात पका रहा' है। भात निष्पन्न नहीं हुआ रहता, फिर भी उसके लिए उसका प्रयोग होता है, यही बात रस के लिए भी है। यह तो लोचन की बात हुई। संसार की हर वस्तु दो ही प्रकार की होती है निष्पन्न या अभिव्यक्त। आप दोनों ही नहीं मानते, तो रस को या तो नित्य माना जाये या असत्, कोई तीसरी गति नहीं। अप्रतीत कोई भी वस्तु व्यवहार के योग्य नहीं होती। यदि यह कहें कि रस की प्रतीति भोगीकरण ही है, और वह है रत्यादिस्वरूप। इतने से भी समस्या सुलझती नहीं, क्योंकि तब तो जितने भी रस हैं उतनी ही भोगीकरण-रूप रसनात्मक प्रतीतियाँ माननी होंगी। और भी, सत्वादिगुणों के अंगांगीभाव से अनेक वैचित्र्य की कल्पना करनी पड़ेगी। आपके केवल तीन व्यापारों से ही काम नहीं चलेगा।

भट्टनायक जो यह कहते हैं कि 'काव्य से रस भावित होते हैं' तो यह तो भट्टलोल्लट की उत्पत्तिपक्ष का ही स्वीकार है, क्योंकि उसका अर्थ ही होता है कि काव्य रसों का भावक है। यह भावकत्व केवल शब्दों से नहीं होता, क्योंकि बिना अर्थ जाने भावकत्व-प्रतीति ही नहीं होगी। केवल अर्थों का भी वह भावकत्व नहीं हो सकता और यदि दोनों के योग में यह भावकत्व है तब तो उसे हमने ध्वनिवादी ने 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः' के द्वारा बता दिया है। इसलिए यदि विभावादि से उत्पन्न चर्वणारूप आस्वादात्मक प्रतीति-गोचरता ही 'भावना' है तब तो उसे हम स्वीकार करते ही हैं।

वह है व्यञ्जना। आपके विवेचन में कोई नवीनता नहीं है। समुचित गुणालङ्कार के द्वारा भावक काव्य के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण होता है यह भट्टनायक मानते हैं। व्यञ्जनावादी कहता है, यह कार्य तो व्यञ्जना से ही हो जाता है, 'भावना' नवीन व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं। और जो लोकोत्तर 'भोग' व्यापार आप मानते हैं वह भी 'ध्वनन' व्यापार से अतिरिक्त नहीं है। 'लोकोत्तर आस्वाद' जिसे भट्टनायक हृदय के द्रुति-विस्तार एवं विकास का रूप मानकर अज्ञानावरण की समाप्ति से एकघन आनन्दप्रकाश आत्मास्वाद सविध मानते हैं, ही भोग-व्यापार है। यह रसभोग रसना व्यापारजन्य चमत्कार है, जो ध्वनन व्यापार से ही संभव है।

भट्टनायक का यह कहना कि सीता-रामादि लोकोत्तर पुरुषों का सबसे हृदय-संवाद नहीं संभव है, यह कहना भी अयुक्त है; क्योंकि चित्त अनेक प्रकार की विशिष्ट वासनाओं से युक्त होता है। वासना अनादि है। इसलिए काव्य आदि का अनुशीलन करते समय पाठक का हृदय रामादि की उन वासनाओं से वासित हो जाता है। अतएव हृदय-संवाद को असंभव नहीं कहा जा सकता। भट्टनायक के मत का यह खण्डन अभिनवभारती एवं लोचन दोनों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। रस प्रतीत होता है। प्रतीति रसना है। वह वाच्यवाचक से व्यतिरिक्त व्यञ्जनात्म ध्वनन-व्यापार है। भोगीकरण एवं भावकत्व व्यापार दोनों इससे विशिष्ट नहीं हैं, एतद्रूप ही हैं।

अभिनवगुप्त ने रस-विवेचन भरत के सूत्र 'काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावाः' सूत्र से प्रारम्भ किया है। रस ही काव्य का अर्थ है। काव्य का अनुशीलन करने वाला अधिकारी पाठक काव्य के केवल वाच्यार्थ की कामना से नहीं पढ़ता है प्रत्युत् वह उससे अधिक कुछ और की चाह रखता है। कुछ और की चाह सबको समानरूप से नहीं होती। इसका अधिकारी विमल प्रतिभा से युक्त हृदय वाला सहृदय ही हो सकता है। जिसे शाकुन्तल के 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' या कुमारसंभव के 'उमापि नीलालक' आदि वृत्तों को पढ़ने के बाद वाक्यार्थ-प्रतीति के अनन्तर 'दुष्यन्त आदि प्राचीन नृप से अनुक्लियमाण मृगादि का परिहार हो जाने से देश-काल-पात्र आदि की सीमा के अवसान से मानसी साक्षात्कारात्मक प्रतीति उत्पन्न होती है। तथाकथित मृग के वृत्तान्त-ज्ञान के बाद केवल भय ही सहृदय के मन में प्रविष्ट होता हुआ, आँखों में छलकता हुआ निर्विघ्नतया प्रतीत होता है। ऐसी प्रतीति में सहृदय की आत्मा भी तिरस्कृत नहीं होती और न ही विशेषरूप से उल्लिखित होती है। यह एक असीमित साधारणीभाव होता है। काव्य में यह मानस-साक्षात्कार होता है।

नाट्य में इसका परिपोष नटादि सामग्री से होता है। नाट्य में भी साधारणीभाव होता है। साधारणीकरण के ही कारण सभी सामाजिकों को एकघन रस की प्रतीति होती है; क्योंकि सभी के चित्त अनादि वासना से वासित होते हैं। अतएव नाट्य में भी उनकी वासना का रामादि की वासना से संवाद हो जाता है। अतएव सभी सामाजिक को रस-प्रतीति एकसमान एवं निर्विघ्न होती है। और रस का जो

यह मानस-साक्षात्कार होता है उसे अध्यवसाय, संकल्प, स्मृति आदि किसी भी शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है। उदाहरण के लिए कालिदास के इस प्रसिद्ध श्लोक में —

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ।।

यहाँ लोकोत्तर स्मृति का महाकवि ने स्वरूप दिखाया है। सुखी भी प्राणी जो रमणीय वस्तु को देखकर या मधुर शब्दों को सुनकर उत्कण्ठित हो उठता है उसका कारण क्या है। निश्चय ही वह पहले कभी भी अनवबोधित जन्मान्तर के सौहार्द का स्मरण करता है; क्योंकि भावस्थिर होते हैं। यहाँ जो स्मृति प्रदर्शित की गयी है वह कोई तार्किक की स्मृति नहीं है प्रत्युत् अलौकिक है। न्याय में पूर्वानुभूत वस्तु की ही स्मृति मानी जाती है किन्तु यह तो अबोधपूर्ण है। यह साक्षात्कारात्मक प्रतिभान का अपर रूप है। यह सर्वथा आस्वाद्य है जिसमें रति ही प्रतिभासित होती है। रसनीय यह रति न लौकिकी, न मिथ्या, न अनिर्वाच्य, न लौकिकतुल्य और तदारोपरूप है प्रत्युत् इन सबसे विलक्षण लोकोत्तर है। इसके उपचयावस्था में नियत देश-काल आदि का परिहार हो जाता है अतएव अनुकार भी कह सकते हैं; क्योंकि लौकिक भावों का अनुकरण भी होता है। विज्ञानवादियों की दृष्टि से इसे बाह्य विषय-सामग्री भी कह सकते हैं, किन्तु यह निर्विवाद है कि निर्विघ्न रसनात्मक प्रतीति से ग्रहण किया जाने वाला भाव ही रस है। वहाँ विघ्न को दूर करने वाले विभाव आदि होते हैं। लोक में संपूर्ण विघ्नों से रहित प्रतीति ही, चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोगसमापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों से कही जाती है। इस प्रतीति में रस के सात विघ्नों का तथा उनके दूरीकरण का स्वरूप भी अभिनव ने प्रदर्शित किया है, ग्रन्थ में ही द्रष्टव्य है।

आगे उन्होंने प्रतिपादित किया है कि रस सभी सुखप्रधान हैं, आनन्द रूप हैं; क्योंकि स्वसंविद् चर्वणारूप एकघन प्रकाश आनन्दरूप है। शोकानुभूति में भी हृदय की विश्रान्ति पायी जाती है। इसलिए सभी रसों का स्वरूप है, आनन्द—इत्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्। स्थायी के विषय में उनका अभिमत है कि उत्पन्न जीव इतने ही संस्कारों से युक्त होता है। १. दुःख-संपर्क से विद्वेष करने वाला सुख के आस्वाद की इच्छा रखता है। इस प्रकार सभी रमण की इच्छा से व्याप्त होते हैं, रतियुक्त होते हैं। अपने में उत्कर्ष का अभिमान रखने के कारण दूसरे का उपहास करता है—हासभाव। अभीष्ट लाभ न होने से पीड़ित होता है—शोक। उस वियोग के कारणों से क्रुद्ध होता है—क्रोध और अशक्त होने से भीरु होता है—भय। कुछ प्राप्त करने की इच्छा रखता है—उत्साह और कभी-कभी अनुचित वस्तु के प्रति विमुखता से भर जाता है—जुगुप्सा। उन-उन अपने तथा दूसरों के अद्भुत कार्यों से चकित होता है—

विस्मय तथा कुछ त्याग करने की प्रवृत्ति से युक्त होता है—निर्वेद। प्राणी इन चित्त-वृत्तियों से शून्य नहीं होता। यह वासना रूप हैं। केवल किसी को अधिक, किसी को न्यून रूप में रहती हैं। व्यभिचारी भावों के विषय में उनका कहना है कि ये तो समुचित विभावादि के अभाव में उत्पन्न भी नहीं होते। प्रत्युत् ये स्थायी रूप चित्तवृत्ति से ही अनुस्यूत होते हैं। समय-समय पर आविर्भूत-तिरोहित होते रहते हैं। विभावादि रत्यादि के उद्बोधक होते हैं। किन्तु उनके अभाव में वे सर्वथा असत् नहीं होते; क्योंकि प्राणियों की वासना ही तन्मय होती है। व्यभिचारी भावों की तो अपने विभाव के अभाव में नाम मात्र की भी स्थिति नहीं होती। यही स्थायी एवं व्यभिचारी भावों का अन्तर है और अन्त में अभिनव ने अपना अभिमत रसस्वरूप उपस्थित किया है।

लोक में व्यक्ति देखता है कि कोई व्यक्ति किसी में अनुरागयुक्त है तो उसका कारण, कार्य, या सहचर रूप लिङ्ग क्या है? इस प्रकार निरन्तर के अभ्यास से स्थायी रूप परचित्त की वृत्ति के अनुमान में पटुता आ जाती है। इसके कारण हैं वे लिङ्ग जिन्हें वह निरन्तर व्यवहार में देखता है। काव्य-पाठ या नाट्यदर्शन के समय वे ही प्रमदा, उद्यान, आदि कारण, कटाक्ष, वीक्षण, आदि कार्य तथा धीरता आदि अन्य तत्त्व प्रत्यक्ष दिखायी पड़ते हैं। किन्तु इस समय ये लौकिक रूप में उपस्थित नहीं होते न कारणादि रूप में। अतएव इनकी कारणत्वादि भूमिका समाप्त हो जाती है। इनका रूप है विभावन, अनुभावन एवं उपरञ्जन। अतएव ये अलौकिक एवं अन्वर्थ संज्ञाओं से युक्त हो जाते हैं। लोक में जो रत्यादि के कारण-कार्य-सहचारी होते हैं, उनका जो रूप होता है काव्य पढ़ने या नाटक देखते समय, उनका वही रूप नहीं होता वहाँ वे कारण रूप होते हैं। अतएव केवल उनके प्राच्य संस्कार को ख्यापित करने के लिए ही इन्हें विभावादि नाम से व्यपदिष्ट किया जाता है। इन अलौकिक विभावादि का सामाजिक की बुद्धि से तरतम भाव से सम्यक् योग या यों कहें ऐकाग्र्य हो जाता है। सामाजिक की चित्तवृत्ति से एकाग्र हुए ये अलौकिक विभावादि ही निर्विघ्न प्रतीतिरूप, चर्वणागोचरीभूत उस रस को व्यञ्जित करते हैं, चर्वणा ही जिसका सार है। यह सिद्ध रूप भी नहीं है घटादि की भाँति, तात्कालिक ही है। अर्थात् विभावादि के योग के समकाल ही रहने वाला है। चर्वणाकाल से अधिक समय तक नहीं रहता। इस प्रकार वह स्थायी से विलक्षण है। इसलिए जैसा कि शंकुक आदि ने कहा है विभावादि से ने अनुमेय (प्रत्याय्य) स्थायी ही रस्यमान होने के कारण रस कहा जाता है, ठीक नहीं है। स्थायी को ही यदि रस कहा जाय तो लौकिक प्रयोग में भी स्थायी को ही रस मानना होगा। जब अविद्यमान स्थायी जो कि नट में रहता नहीं है को ही रस बताते हैं तो फिर लोक में तो वह वर्तमान है क्यों न उसे रस कहा जाय? अतएव विभावादि से स्थायी की प्रतीति शुद्ध अनुमिति मात्र है, रस नहीं। इसलिए सूत्र में भरत मुनि ने 'स्थायी' का उल्लेख नहीं किया। जो यह कहा जाता है कि 'स्थायी रसीभूतः' वह केवल औचित्य वश है, लोक-व्यवहार में दृष्ट होने के कारण हैं।

रस की यह चर्वणा लोकोत्तर है स्मृति आदि से विलक्षण। विभावादि के संयोग

पूर्व नहीं होती अतएव उसे स्मृति नहीं कहा जा सकता और इसे लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण रूप भी नहीं कहा जा सकता। यह प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान आदि लौकिक प्रमाणों से उपलब्ध रत्यादि बोध से तथा योगियों के प्रत्यक्ष ताटस्थ्यपरक संवेदनात्मक ज्ञान और सकल विषयोपरागशून्य आनन्द मात्र विश्रान्त परिमितेतर शुद्ध योगी के एकमात्र आनन्दघनरूप अनुभव से भी विलक्षण एवं लोकोत्तर होता है तथा अलौकिक विभावादि का जो चर्वणा में उपयोग होता है वह अलौकिक ही है और प्रतीति तात्कालिक। अतएव इसे ज्ञप्ति भी नहीं कह सकते। संसार की हर एक उत्पन्न वस्तु ज्ञप्ति या निष्पत्ति रूप ही होती है और रस प्रतीति या चर्वणा इन दोनों से अतिरिक्त होने के कारण अलौकिक ही है। कहा जा सकता है सूत्र में निष्पत्ति पद क्यों रखा है आचार्य ने ? यह निष्पत्ति रस की नहीं, प्रत्युत् तद्विषयक रसना या चर्वणा की है। क्योंकि रस तन्मात्रजीवन है। वह रसना न तो प्रमाण का व्यापार है न कारक। स्वसंवेदन सिद्ध होने से स्वयं भी अप्रामाणिकी नहीं है। यह रसना बोध-रूप ही है किन्तु लौकिक बोध से विलक्षण। क्योंकि उसके उपाय विभावादि अलौकिक होते हैं। इसलिए चूँकि विभावादि के योग से रसना की निष्पत्ति होती है अतः उस प्रकार की रसना का गोचरीभूत लोकोत्तर पदार्थ ही रस है, यह भरत सूत्र का भाव है।

प्रश्न उठता है कि रामादि तो प्राचीन व्यक्ति हैं। नट उनका अभिनय करता है, फिर रस का बोध या तथाकथित साधारणी भाव कैसे हो सकता है ? उत्तर है कि रामादि की वेश-भूषा से नटत्व की प्रतीति बाधित हो जाती है। तथापि प्राक्तन-संस्कार के गहरे होने के कारण काव्य-बलात् प्राप्त करायी गयी भी रामादि की बुद्धि उसमें ठहरती नहीं। अतएव दोनों के कालादि का परिहार हो जाता है। कैसे ? व्यञ्जनात्मक साधारणीकरण व्यापार द्वारा। लोक में रोमाञ्च आदि रति प्रतीतिकारक बहुधा देखे गये होते हैं तथापि वे उस लौकिक सीमा देश काल आदि का परित्याग करके उस नट में रति का बोध कराते हैं। इसमें सहृदय की अपनी आत्मा भी अनुप्रविष्ट रहती है; क्योंकि वह भी उस वासना से वासित रहता है। इसलिए रसप्रतीति न तटस्थरूप होती है न नियतकारणरूप। न तो नियत स्व-परगत होती है जिससे द्वेषादि की उत्पत्ति हो। इसलिए विभावादि से साधारणीभूत एक ही संविद् की गोचरीभूत रति ही श्रृङ्गार कही जाती है। साधारणी भाव कभी विभाव के प्राधान्य में, कभी अनुभाव के प्राधान्य में, कभी सञ्चारी के प्राधान्य में होता है। किन्तु रसास्वाद का उत्कर्ष इनके समप्राधान्य में ही देखा जाता है। वह तो प्रबन्ध और विशेष कर दशरूपकों में ही पाया जाता है। तद्रूपणा से वेश-भूषा आदि के औचित्य से काव्य में भी पाया जाता है। विमल प्रतिभाशाली सहृदय के लिए तो काव्य भी व्युत्पत्ति-प्रीतिजनक होता है किन्तु स्वल्प बुद्धि के लिए नाट्य ही हृदय में निर्मलता का आधायक होता है। यही नहीं, सहृदयों को भी नाट्य से और भी अधिक नैर्मल्याधान होता है। अतएव नाट्य ही रस है, आगे अभिनव ने प्रतिपादित किया है। लोचन में रस के प्रति अभिनव ने इस प्रकार कहा है—

एवं हि लोकगत चित्तवृत्त्यनुमानमात्रमिति का रसता ? यस्त्वलौकिक चमत्कारात्मा रसास्वादः काव्यगत विभावादि चर्वणाप्राणो नासौ स्मरणानुमानादिसाम्येन खिलीकार-पात्रीकर्तव्यः । :किन्तु लौकिकेन कार्यकारणानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिकं प्रतिपद्यमानएव न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते, अपि तु हृदयसंवादापरपर्याय सहृदयत्व परवशी-कृततया पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मरणादि सरणिमना रह्यैव तन्मयी भवनोचितचर्वणाप्राणतया । न चासौ चर्वणा प्रमाणान्तरतो जाता पूर्वं, येनेदानीं स्मृतिः स्यात् । न चाधुना कुतश्चित्प्रमाणान्तरादुत्पन्ना, अलौकिके प्रत्यक्षाद्यव्यापारात् । अतएव अलौकिक एव विभावादि व्यवहारः । यदाह—विभावो विज्ञानार्थः लोके कारणमेवाभिधीयते न विभावः । अनुभावोऽप्यलौकिक एव । यदयमनुभावयति वागङ्ग-सत्वोऽभिनयस्तस्मादनुभाव इति । तच्चित्तवृत्तितन्मयी भवनमेवह्यनुभवनम् । लोकेतु कार्य-मेवोच्यते नानुभावः । अतएव परकीयान चित्तवृत्तिर्गम्यत इत्यभिप्रायेण 'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम् । तत्प्रत्युतशल्यभूतं स्यात् । स्थायिनस्तु रसीभाव औचित्यादुच्यते, तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिसंस्कार सुन्दरचर्वणोदयात् । हृदयसंवादोपयोगि लोकचित्तवृत्तिपरिज्ञानावस्थाया मुद्यानपुल-कादिभिः स्थायिभूतरत्याद्यवगमाच्च । व्यभिचारी तु चित्तवृत्त्यात्मत्वेऽपि मुख्य चित्तवृत्ति-परवश एव चर्व्यत इति विभावानुभावमध्ये गणितः । अतएव रस्यमानताया एषैव निष्पत्तिः ।.यत्प्रबन्ध प्रवृत्त बन्धुसमागमादिकारणोदित हर्षादिलौकिक चित्तवृत्तिन्यग्भावेन चर्वणारूपत्वम् । अतश्चर्वणात्राभिव्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनम्, प्रमाणव्यापारवत् । नाप्यु-त्पादनम्, हेतु व्यापारवत् ।

यदि नेयं ज्ञप्तिर्नवा निष्पत्तिः, तर्हि किमेतत् ? नन्वयमसावलौकिको रसः । ननु विभावादिरत्र किं ज्ञापके हेतुरुत कारकः ? न ज्ञापको न कारकः, अपितु चर्वणो-पयोगी । ननु क्वैतद्दृष्टमन्यत्र ? यतएव न दृष्टम्, ततएवालौकिक मित्युक्तम् । नन्वेवं रसोऽप्रमेयःस्यात् ? अस्तु; किं ततः ? तच्चर्वणात एव प्रीतिव्युत्पत्तिसिद्धेः, किमन्यदर्थ-नीयम् । नन्वप्रमाणकमेतत्; न, स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । ज्ञानविशेषस्यै चर्वणात्मत्वात् इत्यलं बहुना । अतश्च रसोऽयमलौकिकः । लोचन, पृ० १६२—४ ।

इस प्रकार रस के विकास में आचार्य अभिनवगुप्त का सबसे बड़ा योगदान रहा है । उन्होंने रस को नाट्य और काव्य का विषय बनाकर रचना में उसे सर्वोपरि स्थान प्रदान किया तथा रस के विषय में स्थायी को रस से पृथक् रूप में सिद्ध कर रस की सुचारु व्याख्या की । सामाजिक में रसप्रतीति को बतलाकर पूर्ववर्ती आचार्यों की उपस्थापित समस्या का समाधान किया, साथ ही रसास्वाद के योग्य पात्र का भी निर्देश किया । रस की अलौकिकता सिद्ध कर उसे अर्थात् नाट्य रस की लोक से विलक्षणता स्थापित की जो सर्वथा उचित है । काव्यानुभूति में गुणालङ्कार आदि की भी समुचित योजना को उन्होंने महत्त्व दिया । अभिव्यञ्जना को रस की चर्वणा का मुख्य आधार एवं स्थायी की संस्कारात्मक व्याख्या कर रस को मनोवैज्ञानिक आधार पर परखने का

भी कार्य अभिनव ने ही किया। अन्ततः उसके बाधक तत्त्वों का निरास के शिवत्व तक पहुँचाने का श्रेय उन्हें ही है। अभिनव के रस की दार्शनिक मीमांसा डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ में की है। वस्तुतः अभिनव-सिद्धान्त की व्याख्या शैवागम में ही उचित रूप से संभव है।

इस भूमिका में लिखने का विचार तो बहुत था, किन्तु बढ़ते कलेवर को देखते हुए परवर्ती शास्त्रकारों का उल्लेख मात्र ही काफी होगा।

अभिनव के समसामयिक धनञ्जय के 'दशरूपक' में, जिस पर धनिक की 'अवलोक' टीका भी है, भी रस पर विचार किया गया है। इनके अनुसार रसादि का काव्य के साथ व्यंग्यव्यञ्जकभाव न होकर भाव्यभावक भाव है। रस भाव्य है और काव्य उनके भावक—'न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्यव्यञ्जक भावः, किं तर्हि, भाव्य भावक सम्बन्धः। काव्यं हि भावकम्, भाव्याः रसादयः।' धनिक की यह उक्ति उन्हें भट्टनायक के समीप ले जाती है। इसका विस्तार उन्हीं के ग्रन्थ में देखा जा सकता है।

व्यक्तिवाद का खण्डन करने वाले अनुमितिवादी महिमभट्ट भी रस को काव्यात्मा तो मानते हैं--'काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः।' किन्तु वह रस को व्यंग्य न मानकर अनुमेय मानते हैं। ध्वनिकार से बिलकुल विपरीत ही कहते हैं—अर्थोऽपि द्विविधः; वाच्योऽनुमेयश्च। तत्र शब्दव्यापारविषयोवाच्यः।'......तत एव तदनुमिताद्वा लिंग भूताद्यदर्थादर्थान्तरमनुमीय ते सोऽनुमेय। सत्र त्रिविधः, वस्तुमात्रमलंकाररसादयश्च। तत्राद्यौ वाच्यावपि संभवतः। अन्यस्त्वनुमेय एवेति।' ११वीं शती के महाराज भोज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' एवं 'श्रृङ्गार प्रकाश' में बड़े विस्तार से रस का विवेचन किया है। उनकी रस के विषय में सबसे बड़ी मान्यता है रस को अभिमान, अहंकार या श्रृङ्गार का पर्याय मानना। वह श्रृङ्गार को ही एक मात्र रस मानते हैं। अन्य रस उसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। रस का मूल आधार मानवीय चेतना है जिसे 'अहम्' का ही रूप कहा जा सकता है। फ्रायड ने जीवन और साहित्य के विषय में अहं और काम की जो व्यापक प्रतिष्ठा की है, वह बहुत अंशों में भोज के विचारों के अनुरूप है। देखा जाय तो भोजराज दण्डी के विचारों को ही आगे बढ़ाते हैं। रसविषयक उनकी धारणा है—

अप्रातिकूलिकतया मनसो मुदादेर्यस्संविदोऽनुभवहेतुरिहानिमानः।
ज्ञेयो रसः स रसनीयतयाऽत्मशक्तेः रत्यादिभूमनि पुनर्वितथा रसोक्तिः॥

—श्रृं० प्र० ११, पृ० ४२९।

आगे कहते हैं—

रत्यादि भूमाहि रसः। किं तर्हि श्रृङ्गारः ? श्रृंगारोहि नामविशिष्टेष्ट दृष्ट चेष्टाभिव्यञ्जकानां आत्मगुण सम्वदा मुत्कर्ष बीजं बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्न संस्काराद्यतिशय हेतुरात्मनोऽहङ्कारगुणविशेषः सचेत सा रस्यमानो रसः।

मम्मट ध्वनिवादी एवं अभिनवगुप्त के मत का अनुसरण करते हैं, बिना किसी टीका-टिप्पणी के अभिनव-भारती प्रोक्त चार प्रधान मतों को उपस्थित कर देते हैं। आचार्य हेमचन्द्र भी अपने काव्यानुशासन में इन्हीं ध्वनिवादी आचार्यों का अनुगमन करते हैं। विवेक में वह लिखते हैं—'साधारणीभावना च विभावादिभिरिति श्रीमानभिनव गुप्ताचार्याः। एतन्मतमेवास्माभिरुपजीवितं मन्तव्यम्।'

आचार्य विद्याधर ने 'एकावली' के तृतीय उन्मेष में रस का परिशीलन किया है। ध्वनिवादी होने के कारण उन्होंने अभिनव-मम्मट के मत को और भी परिष्कृत एवं संतुलित रूप में रखा है। साथ-ही-साथ तात्पर्यगोचर मानने वालों का खण्डन भी किया है। अन्त में कहते हैं—

'अतः कारकत्व ज्ञापकत्वव्यावृत्तो विभावादिश्चर्व्यमाणो पयोगित्वमात्रेण हेतुरलौकिको भवन्नलौकिकत्वमेव रसस्याभिव्यनक्ति। यदुक्तम्—

'योलौकिकोऽप्यतिजनः कारकसिद्धोऽप्यकार्यभूतश्च।
सविकल्पोऽप्यविकल्पः स रसः केनोपमीयेत ॥

ननु,

तत्प्रेक्ष्यं श्रव्यतांश्राव्यं सम्यग् भावयतांहृदि।
अलौकिकसुखास्वादो रस इत्यभिधीयते ॥

—एकावली, पृ० ९५।

रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' की (द्वादश शती का उत्तरार्द्ध) रचना की है। नाटक के सन्दर्भ में इन्होंने रस की व्याख्या की है। वैसे विवेचन तो परम्परानुसार ही है किन्तु यह मानते हैं कि रसानुभूति सर्वत्र सुखात्मक ही नहीं होती। करुण, रौद्र, बीभत्स एवं भयानक रसों में यह दुःखात्मक भी होती है किन्तु चमत्कारजन्य आनन्द के कारण भी वह दुःख सुखमय ही लगता है।

तेरहवीं शती के शारदातनय का रसविषयक ग्रन्थ है 'भाव-प्रकाशन'। इसमें रस के विभिन्न पक्षों एवं भावों की व्यवस्थित व्याख्या की गयी है। यह मानते हैं कि—'या चेयमिच्छा जगतां सिसृक्षोः परमात्मनः, विषयासक्ता रतिः सैव श्रृङ्गार इति गीयते।' भोजराज अहं को ही प्रधान मानते हैं। इनका कथन है कि परमात्मा की इच्छा या जगत् निर्माण की जो मूल कामना है. विभिन्न सांसारिक विषयों से अनुरक्त होकर वही 'रति' कही जाती है और यही रति अन्ततः श्रृङ्गार बनती है।

१४वीं शती के आचार्य विश्वनाथ नाट्यशास्त्र के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। इन्होंने 'साहित्यदर्पण' के तृतीय परिच्छेद में बड़े विस्तार से रस की व्याख्या की है। प्रथम कारिका है—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम ॥ सा० द० ३।१.

कतिपय अन्य कारिकायें भी विद्यार्थी के लिए उपयोगी होंगी—

सत्वोद्रेकाद खण्ड स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तर स्पर्श शून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
लोकोत्तर चमत्कार प्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमा स्वाद्यते रसः ॥ वहीं २-३ ।
करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
मचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥ ४ ॥
परस्यन परस्येति ममेति न ममेति च ।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥ १२ ॥
कारण कार्य सञ्चारि रूपा अपिहि लोकतः ।
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येवते मताः ॥
प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते ।
ततः संवलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ॥
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ॥ १४–१६ ॥

'भानुदत्त' की 'रसमञ्जरी' एवं 'रसतरङ्गिणी' दो पुस्तकें मिलती हैं । 'रस तरङ्गिणी' आठ तरङ्गों में विभक्त है । आठ रस विभावादि का सम्यक् विवेचन है । 'रसमञ्जरी' 'तरङ्गिणी' से कुछ छोटा ग्रन्थ है । इसमें नायक-नायिका तथा उनके परिवार का विवेचन है ।

१६ वीं शताब्दी में आविर्भूत आचार्य रूपगोस्वामी बंगाल की वैष्णव-परम्परा में आते हैं । इन्होंने अपने दो ग्रन्थ 'भक्ति रसामृतसिन्धु' एवं 'उज्ज्वलनीलमणि' में क्रमशः भक्तिरस एवं उज्ज्वलरस की सांगोपाङ्ग विवेचना की है । भक्तिरस के ५ भेद किये हैं— शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य । भगवद्रति या ईश्वर प्रेम को ही उज्ज्वल रस का स्थायी भाव माना है । वस्तुतः इनके संपूर्ण ग्रन्थ भक्तिरस से परिपूर्ण हैं ।

संस्कृत-साहित्य के अमर काव्यप्रणयी रसधुरन्धर 'रसगङ्गाधर' के लेखक पण्डितराज जगन्नाथ ने भी सविस्तार रस की न केवल व्याख्या की है, अपितु अन्य मतों का परीक्षण भी किया है । उन्होंने अभिनव के मत की वेदान्तपरक व्याख्या की है । भग्नावरणा चित् को ही वह व्यक्ति (व्यञ्जना) मानते हैं । आत्मचैतन्य ही विभावादि से संवलित रत्यादि को प्रकाशित करता है । लिखते हैं—'विभावादि चर्वणामहिम्नः सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहित स्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते । इत्थं च भग्नावरणाचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थाय्ये व रसः ।' (र० ग०, पृ० २२-२३.) । ऊपर व्याख्यात मतों के अतिरिक्त उन्होंने नव्यों के नाम से एक नया मत प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—'नव्यास्तु काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जनाव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीताया मनन्तरं च सहृदयतयोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पित

दुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्य ज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकलइवरजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयक रत्यादिरेव रसः।' वही, पृ० २५।

यहाँ भावनाविशेष रूप दोष, जो सहृदय की अपनी सहृदयता से उत्पन्न होता है, से दुष्यन्त आदि का आवरण हो जाने से आत्मावभासित शकुन्तलादि विषयक रति ही रस मानी जाती है। भावनादोष का यह कार्य है। भावना के विनाश हो जाने पर रस भी विनष्ट हो जाता है। यहाँ सब अनिर्वचनीय ही है। अतएव रस भी अनिर्वचनीय होता है।

इस प्रकार संक्षेप में रस-सिद्धान्त की भारतीय परम्परा को प्रस्तुत किया गया। निश्चय ही इसका विवेचन यदि आधुनिक प्रवृत्तियों एवं पश्चिम कला-सिद्धान्तों को लेकर किया जाय तो विद्यार्थी के लिए एक महत्त्वपूर्ण देन होगी, किन्तु विषय की व्यापकता के कारण इस लोभ का यहाँ संवरण ही अधिक अच्छा प्रतीत होता है। रस के तुलनात्मक अध्ययन के लिए डॉ० निर्मला जैन का 'रससिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र' तथा मनोवैज्ञानिक जानकारी के लिए डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त का 'रससिद्धान्त का पुनर्विवेचन' विद्यार्थी के लिए अतिशय उपयोगी ग्रन्थ है। डॉ० गुप्त ने निश्चय ही इस दिशा में अच्छा प्रयास किया है। प्रकृत पुस्तक साहित्य-शास्त्र के विद्यार्थियों, विशेषकर उन विद्यार्थियों के लिए जो परीक्षार्थी हैं, लिखी गयी है। अतः इसकी प्रौढ़ता एवं परिपक्वता का पूर्ण दावा नहीं किया जा सकता। कमियाँ जो भी हैं वह मेरी अपनी हैं। उनमें संस्कृत के विवेचकों का कोई योग नहीं है। अभिनव का रस-विवेचन तब-तक पूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक उसके साथ पुस्तक के अन्त में लगे 'परिशिष्ट' को न लगा लिया जाय। अतएव उसे भी देना पड़ा। पुस्तक के नाम से किसी नये रस-सिद्धान्त की आशा नहीं करनी चाहिए। वस्तुतः यहाँ अभिनव गुप्त द्वारा व्याख्यात रस-सिद्धान्त का विवेचन मात्र किया गया है। आशा है, सुधी-वर्ग अपनायेगा। अभिनव के ही शब्दों में—

वस्तुतश्शिववभयेहृदि स्फुटं सर्वतश्शिववमयं विराजते।
नाशिवं क्वचनकस्यचिद्वचस्तेन वश्शिववमयी दशा भवेत् ॥

(लोचन)

———

अथाभिनव

रससिद्धान्त

‘अथाभिनव रससिद्धान्त’

नाट्यशास्त्रे षष्ठाध्याये

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः ।

न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।

तत्रहि, विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

रसविषयं लक्षणसूत्रमाह—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः । अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः । अत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम् । अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात् । अपितु भावानामेव । (ते) येऽनुभावाः व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिता । दृष्टान्तेऽपि व्यञ्जनादि-

---

नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में पहले रस की ही व्याख्या करेंगे । (क्योंकि), रस के बिना कोई वस्तु प्रवर्तित नहीं होती । तो विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है ।

रसविषयक लक्षणसूत्र कहते हैं—विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों के योग से रस की निष्पत्ति होती है । तो इस विषय में भट्टलोल्लट आदि ने इस प्रकार व्याख्या की है :—विभाव आदि (अनुभाव तथा सञ्चारीभावों) से संयोग अर्थात् स्थायी (भाव का संयोग होने पर) का (हो तो) उससे रस की निष्पत्ति होती है । यहाँ विभाव स्थायीरूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारणरूप है और अनुभाव यहाँ रसोत्पन्न रूप में विवक्षित नहीं हैं, क्योंकि रस के कारणरूप में उनकी गणना अनुपयुक्त है । प्रत्युत् (वे) रत्यादि स्थायी भावों के ही ये अनुभाव हैं । और व्यभिचारी चित्तवृत्तिरूप होने पर भी यद्यपि स्थायी (भाव) के साथ उत्पन्न नहीं होते तथापि यहाँ वे उसके (स्थायी के) वासनारूप में विवक्षित हैं । दृष्टान्त में भी; व्यञ्जन[1] आदि के बीच स्थायी की भाँति किसी (एक) की ही

---

१. जैसा कि आगे व्यञ्जन का दृष्टान्त दिया गया है । व्यञ्जन अन्न जल नाना प्रकार के द्रव्यों आदि के मिश्रण से बनता है । उसमें सभी का योग होता है किन्तु प्रधानतया स्थिति एक ‘अन्न’ की ही होती है उसी प्रकार यद्यपि वासनारूप से सभी भाव चित्तवृत्ति में अवस्थित रहते हैं किन्तु उनमें से कतिपय, जैसे स्थायी की ही प्रधानतया वासनारूप में अवस्थिति पाई जाती है । अन्य सञ्चारी आदि भाव आते-जाते रहते हैं । अनुकूल परिस्थितियों को पाकर उद्भूत और विलीन होते रहते हैं । इसलिए विभावादि से उपचित स्थायी ही रस है यह मत भट्टलोल्लट आदि का हुआ । यहाँ इनके अनुसार रस की उपचिति प्रधानतया रामादि अनुकार्य (जिनका अनुकरण

मध्ये कस्यांचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्। अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी भवत्वनुपचितः। स चोभयोरपि। [मुख्यया वृत्त्या रामादौ] अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्—इति।

चिरन्तनानां चायमेव पक्षः। तथा हि दण्डिना स्वालङ्कारलक्षणेऽभ्यधायि। "रतिः श्रृङ्गारतां गता। रूप बाहुल्ययोगेन"-इति (काव्यादर्शे २-२८१)

"अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः।" (२-२८३) इत्यादि च।

एतन्नेति श्रीशङ्कुकः। विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तेर्भावानां पूर्वमभिधेयताप्रसङ्गात् स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात् मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः, हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः, कामा-

---

वासनारूपता होती है। व्यभिचारी की भाँति किसी अन्य की (कभी-कभी) उत्पत्ति होती रहती है। इसलिए विभाव आदि से उपचित (परिपुष्ट) स्थायी ही रस है। स्थायी परिपुष्ट होता है। वह दोनों में ही (उपचित होता है) (मुख्य वृत्ति से राम आदि) अनुकार्य में और अनुसन्धान-बल से अनुकर्ता (नटादि) में।

और प्राचीनों का भी यही मत है। जैसे, दण्डी ने अपने अलङ्कार-लक्षण में कहा है 'अतिशय रूप के संयोग से रति ही श्रृंगारभाव को प्राप्त हो गयी। (काव्यादर्श २-२८१)। और वहीं २-२८३ में भी (उन्होंने कहा है) कोप ही चरम सीमा पर पहुँच जाने पर रौद्रस्वरूप हो गया।' (आगे शंकुक द्वारा इन मतों का खण्डन प्रदर्शित किया जायगा।)

श्री शङ्कुक (का कहना है) कि ऐसा नहीं होता। (अर्थात् उपचित इत्यादि स्थायीभाव को ही रस नहीं माना जा सकता। क्योंकि, विभाव आदि से संयोग होने पर ही रत्यादि स्थायीभावों का प्रत्यक्ष बोध होता है और) विभाव आदि के साथ

किया जाता है) में होती है। चूँकि नट उनका अनुकरण करने वाला है, इसलिए गौणतया अनुसन्धान-बल से उसमें भी उपचित होता है। इस मत का सबसे बड़ा दोष यही है, क्योंकि भूतकाल में हुए रामादि में अभिनय के समय रस का परिपोष कैसे हो सकता है। और यदि नटादि में उसकी उपस्थिति पायी जाय तो सामाजिक प्रेक्षक को उससे क्या लाभ ?

भट्टलोल्लट के मत को सक्षेप में 'लोचन' में इस प्रकार रखा गया है—"पूर्वावस्थायां यः स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्येतु प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरसः इति।" (लोचन, पृ० १९४) और काव्य-प्रकाशकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणै रत्यादिको भावो जनितः अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।" (का० प्र०, पृ० ६६, चौ० सं०)।

वस्थासु दशस्वसङ्ख्यरसभावादि प्रसङ्गात्, शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालानुमान्द्यदर्शनं क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च।

स्थायीभाव का संयोग न होने पर उसका (स्थायी का) लिङ्ग के अभाव में बोध ही नहीं होगा। (विभाव आदि के संयोग होने से रत्यादि की जो प्रतीति होती है वह रस से भिन्न नहीं कही जा सकती। उसे रस ही कहेंगे, स्थायीभाव नहीं। अतः रस और स्थायी भिन्न भिन्न हैं। स्थायी को ही रस कहना अनुपयुक्त है।)

(और यदि विभावादि के प्रयोग के विना भी स्थायीभाव की प्रतीति मानी जाय तो विभावादि के प्रयोग से) पूर्व भावों की अभिधेयता का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। (वस्तुतः विभावादि के संयोग के पूर्व होने वाला रत्यादि ज्ञान केवल परोक्ष रूप होता है अतः रस नहीं माना जा सकता। शब्दतः बोध्य होने पर भी वह अप्रत्यक्ष ही रहता है। वह आस्वाद्य नहीं होता अतः रस नाम से व्यपदिष्ट भी नहीं हो सकता)। (और यदि विभावादि के संयोग से पूर्व ही रस की) अवस्थिति मानी जाय तो फिर (रस के) अन्य लक्षण (विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः) की व्यर्थता हो जाती है। (रत्यादि स्थायीभाव मन्द, तीव्र या मध्यम रूप में पाये जाते हैं और यदि रत्यादि को ही रस मानने लगें तो रस में भी) मन्द, मन्दतर, मन्दतम, मध्यम आदि अनन्त भेद होने लगेंगे (रस एक ही रूप में अनुभूत होता है अतएव उसमें मात्राकृत भेद नहीं हो सकता। यही नहीं, रत्यादि स्थायी को ही रस मानने पर रस की भाँति स्थायीभावों में मात्रा का भेद अस्वीकृत कर देना पड़ेगा।) और (हास्य-रस में स्थायी के तरतमभाव से होने के कारण किये गये) छः भेदों का अभाव प्राप्त होने लगेगा और (यदि स्थायी के तरतमभाव के आधार पर रस का भी भेद करने लगेंगे तो) काम की दश अवस्थाओं (अभिलाषा, चिन्तन, स्मृति, गुणकथा, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जड़ता तथा मृत्यु) में असंख्य रस, भावादि का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। (उपचित स्थायीभाव को भी रस नहीं कहा जा सकता क्योंकि) करुण-रस में शोकरूप स्थायी पहले तो तीव्र होता है किन्तु बाद में समयानुसार मन्द होता पाया जाता है (ऐसी दशा में उसकी उपचिति नहीं हो सकती और उपचिति के अभाव में करुण-रस की उत्पत्ति भी नहीं हो पायेगी और) इसी प्रकार क्रोध, उत्साह तथा रत्यादि स्थायीभावों में (परिपोषक सामग्री के अभाव में) अमर्ष, स्थैर्य और सेवा आदि विपर्यय (अर्थात् उपचय के बजाय अपचय) पाया जाता है (इस प्रकार क्रोधादि का) ह्रास देखा जाता है। अतः विपर्यय (उपचित स्थायी के अतिरिक्त अपचित स्थायी) देखे जाने के कारण उपचित स्थायी ही रस है कहना अनुपयुक्त है। (इस प्रकार शंकुक भट्टलोल्लट के लक्षण में आठ दोष का प्रदर्शन कर अपनी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं)।

तस्माद्धेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायीभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः। अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।

विभावा हि काव्यबलानुसन्धेयाः। अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः। 'रतिः शोक' इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयी कुर्वन्त्यभिधानत्वेन। न तु वाचिकाभिनयरूपतयाऽवगमयन्ति। न हि वागेव वाचिकम्। अपि तु तया निर्मितम्। अङ्गैरिवाङ्गिकम्। तेन—

तस्माद्धेतुभिः·······························व्यपदिष्टो रसः।

इसलिए कृत्रिम होने पर भी (नटादि के) अभ्यास द्वारा उपार्जित किये जाने के कारण उस प्रकार से (कृत्रिम रूप से) न माने जाने वाले विभावरूप कारणों, अनुभावरूप कार्यों तथा सहचारिरूप व्यभिचारिभावों से अनुकर्ता में स्थित होने के कारण लिङ्ग (हेतु) की सहायता से अनुमीयमान (प्रतीयमान) स्थायीभाव, (यहाँ)— रामादिगत स्थायी ही अनुकरणरूप है और अनुकरणरूप होने के कारण ही दूसरे नाम से व्यपदिष्ट होते हैं—रस कहा जाता है।

(अब विभाव आदि का लक्षण किया जा रहा है) :—विभाव काव्य के माध्यम से अनुसन्धेय (जाने जाते) हैं। (रस की अनुभूति में विभाव कारणरूप होते हैं)। अनुभाव (कटाक्षादि) शिक्षा आदि के द्वारा तथा व्यभिचारीभाव अपने कृत्रिम अनुभाव आदि ज्ञान के द्वारा (जाने जाते हैं।) (किन्तु स्थायी इनमें से किसी के भी द्वारा बोध्य नहीं है) वह तो काव्य-बल से भी अनुसन्धेय नहीं है (वासनारूप में वह पूर्व से ही उपस्थित रहता है। विभावादि लिङ्गों स वह रामादि गत रत्यादि के रूप में नटादि में अनुमित होता है। क्योंकि वह अनुकरणरूप है अतः स्थायी नाम से व्यपदिष्ट न होकर रस कहा जाता है।) रति शोक आदि शब्द अभिधान (अभिधाशक्ति) द्वारा रति, शोक आदि को बोधित करते हैं (यद्यपि प्रत्यक्षतया ये अभिधेय नहीं है)। वाचिक अभिनय के रूप मे बोधित नहीं करते।

(वस्तुतः वाचिक और आङ्गिक अभिनय में वस्तु को प्रत्यक्षतया उपस्थित कर दिया जाता है अतः उससे साक्षात् रसोद्बोध होता है किन्तु शब्दतः कहे जाने वाले या अभिधया बोध्य 'रति शोक' आदि के प्रयोग से साक्षात् या प्रत्यक्ष रत्यादि का बोध नहीं होता; क्योंकि शब्द प्रमाण से उपस्थित किया जाने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर परोक्षरूप होता है। वाणी से किसी वस्तु का प्रतिपादन करना और है तथा वाचिक अभिनय और। अतः नटादि से प्रस्तुत वाचिक अभिनय या आंगिक अभिनय प्रत्यक्ष रसोद्बोधक होता है किन्तु अभिहित रत्यादि शब्द अप्रत्यक्षतया बोधित होते हैं, वाचिक अभिनय के रूप में नहीं)। (क्योंकि) वाक् (शब्द) ही वाचिक (अभिनय) नहीं

["विवृद्धात्माऽप्यगाधोऽपि दुरन्तोऽपि महानपि ।]
वाडवेनेव जलधिः शोकः क्रोधेन पीयते ॥" इति ।

तथा—

"शोकेन कृतः स्तम्भः तथा स्थितो योऽनवस्थिताक्रन्दैः[1] ।
[हृदयस्फुटनभयार्तैः रर्दितुमभ्यर्थ्यते सचिवैः ॥"]

इत्येवमादौ न शोकोऽभिनेयः । अपि त्वभिधेयः ।

"भाति पतितो लिखन्त्याः [तस्या बाष्पाम्बुशीकरकणौघः ।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि ॥"]
(रत्ना० २-११)

इत्यनेन तु वाक्येन स्वार्थमभिदधता उदयनगतः सुखात्मा रतिः स्थायीभावोऽभिनीयते न तूच्यते । अवगमनशक्तिर्ह्यभिनयनं वाचकत्वादन्या । अत एव स्थायिपदं सूत्रे भिन्नविभक्तिमपि नोक्तम् । तेन रतिरनु-

---

है अपितु वाक् (वाणी) से निर्मित (किया जाने वाला अभिनय वाचिक अभिनय कहा जाता है, वैसे ही) जैसे अङ्गों से (किया जाने वाला अभिनय) आङ्गिक (कहा जाता है न कि अङ्ग ही आङ्गिक है) । इसलिए, 'वाड़व से' अतिशय वृद्धि को प्राप्त, अगाध, दुरन्त तथा विशाल भी सागर की भाँति (अत्यन्त वृद्धि प्राप्त, अगाध, दुरन्त तथा महान् भी) शोक, क्रोध से पी लिया जाता है (समाप्त कर दिया जाता है) ।'

तथा—

'जो (यह राजा उदयन) शोक से स्तम्भ को प्राप्त कर (निश्चेष्ट हो) उस प्रकार से पड़ा है कि आक्रन्दन से अस्तव्यस्त (या विना क्रन्दन, क्रोशादि के) (उदयन के) हृदय फट जाने के डर से आर्त्त सचिवगण (उसकी) प्रसन्नता के लिए (परमात्मा से) पुनः-पुनः प्रार्थना कर रहे हैं ।'

इत्यादि में शोक-अभिनय योग्य नहीं है अपितु अभिधा से बोध्य है ।

'(राजा उदयन कह रहा है कि) चित्र बनाते हुए उसके अश्रु-बिन्दुओं के कुछ सूक्ष्मांश (मेरे चित्रित शरीर पर) गिरे हुए ऐसे लगते हैं मानो उसके (चित्र-निर्माण के अवसर पर) करतल संस्पर्श से मेरे शरीर में पसीने का प्रादुर्भाव हो गया है ।'

किन्तु अपने अर्थ को कहने वाले (अभिधा से बोधित करने वाले) इस वाक्य से उदयनगत आनन्दस्वरूप रति स्थायीभाव का अभिनय किया जा रहा है न कि (मात्र) कहा जा रहा है । (यद्यपि अभिधा-शक्ति ही अर्थ की अवबोधक है किन्तु) अभिनय भी वाचकत्व (शक्ति) से भिन्न (क्योंकि वाचक शक्ति (अभिधा) से अर्थ का उस प्रकार प्रत्यक्षतः बोध नहीं होता जिस प्रकार अभिनय से साक्षात् रूप में

---

१. म० भा०, तथा तथास्थितो योऽवस्थिता ।

क्रियमाणा शृङ्गार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं चायुक्तम्। अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानदृष्टा (नादृष्टा)—

["मणि प्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्यभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थ क्रियां प्रति ॥" इति।

न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययमेव राम इति। न

अर्थ का बोध कराने वाली अपर शक्ति है। (क्योंकि स्थायीभावों का बोध काव्य-बल से भी सम्भव नहीं है, केवल अभिनय से ही उसकी प्रतीति होती है) इसीलिए (सूत्रकार भरत मुनि ने) अपने रससूत्र में स्थायी पद का भिन्न विभक्ति में भी आख्यान नहीं किया।

(भरत मुनि ने रस-सूत्र में स्थायी पद का कहीं भी प्रयोग नहीं किया है। परन्तु सूत्र की व्याख्या में भट्टलोल्लट ने 'स्थायिनः' पद का अध्याहार कर अर्थ किया है 'विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनः।' 'भिन्न विभक्तिमपि नोक्तम्' आदि पद इसी का खण्डन करते हैं। भाव यह है कि स्थायीभाव काव्यबल से भी अनुसन्धेय नहीं है। नाटक में अभिनय के माध्यम उसकी प्रतीति होती है। अभिनय अनुकरणरूप है। अतः उपचित स्थायीभाव रस नहीं है प्रत्युत् अनुकृत किया जाता स्थायी रस कहा जाता है। स्थायीजन्य या स्थायी के रूप में उसका व्यवहार प्रधानतया न होकर गौण है। वस्तुतः अनुक्रियमाण रत्यादि ही शृङ्गार आदि रस कहे जाते हैं। इसी को आगे की उक्ति से प्रस्तुत किया गया है।)

इसलिए (नटादि द्वारा) अनुक्रियमाण (तद्गत) रतिरूप स्थायी ही शृङ्गार-रस है। इसलिए रस को तदात्मक (स्थायीरूप) या तज्जन्य (स्थायी से उत्पन्न) कहना अयुक्त है।

(इस प्रकार शंकुक के मत में अनुक्रियमाण रति आदि ही रस माने गये हैं। यहाँ सन्देह सम्भव है कि, अनुक्रियमाण रत्यादि तो वास्तविक होते नहीं। तद्विषयक ज्ञान मिथ्या ज्ञानतुल्य माना जाता है। इस प्रकार की मिथ्या प्रतीति में रस के आनन्द की वास्तविक अनुभूति भी सम्भव नहीं है। इसी का समाधान आगे की पंक्तियों में किया गया है कि मिथ्या ज्ञान में भी फल-प्राप्ति देखी जाती है।)

मिथ्या ज्ञान से भी (आनन्दस्वरूप) अर्थ-क्रिया (फल-प्राप्ति) देखी जाती है। (इसी को उदाहरण से स्पष्ट करते हैं)

मणि (प्रभा) तथा प्रदीप प्रभा दोनों के प्रति मणि समझकर (उसकी प्राप्ति के लिए उसके प्रति) दौड़ने वाले दो व्यक्तियों के मिथ्या ज्ञान में कोई भेद न होने पर भी अर्थ-क्रिया (फल प्राप्ति) के प्रति विशेष (भेद) पाया जाता है।

(वस्तुतः अभीष्ट-प्राप्ति एकमात्र यथार्थ ज्ञान की प्रवृत्ति से ही नहीं होती। अयथार्थ ज्ञान की प्रवृत्ति से भी वह देखा जाता है। दूर से चमकती शुक्तिका में रजत

---

१. भ० भ० ना दृष्टा।

चाप्ययं न सुखीति । नापि रामः, स्याद्वा न वायमिति । न चापि तत्सदृश इति । किन्तु [सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादि न्यायेन] यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीतिरस्तीति । तदाह—

की प्रतीति भ्रान्ति से ही होती है। यह अवश्य है कि प्राप्ति उसी की होती है जो निश्चयात्मक ज्ञान से होती है। काव्यानुभूति भी इसी प्रकार की है। उसमें अविद्यमान राम-सीता आदि की विद्यमान रूप में मिथ्या प्रतीति होती है। परन्तु इससे भी रसानुभूति होती ही है भले ही अविद्यमान रामादि गत अनुक्रियमाण रत्यादि भी मिथ्या ही होती है। अनुक्रियमाण रत्यादि के मिथ्या होने से रस भी भले ही मिथ्या हो, परन्तु फल वास्तविक होता है। इसमें उक्त कारिका को उद्धृत किया गया है। यह कारिका बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति की है। यह प्रमाणवार्तिक में उपलब्ध है। इसकी संस्कृत व्याख्या निम्न है :—

'कस्मिंश्चिद् मन्दिरे अपवरकस्यान्तः दीपो वर्तते। तस्य प्रभा बहिर्द्वारप्रदेशे रत्नमिव वर्त्तुला उपलक्ष्यते। तथा अन्यस्मिन् मन्दिरे अपवरकस्यान्तः रत्नं तिष्ठति। तस्य रत्नस्य प्रभा बहिर्द्वारप्रदेशे प्रदीपप्रभेव रत्नसमानोपलभ्यते। तथाविधं प्रभाद्वयं दूरतो दृष्ट्वा अयं मणिरयं मणिरिति बुद्ध्या द्वौ पुरुषौ अभिधावनं कुरुतः। द्वयोरपि प्रभाविषये जायमानं मणिज्ञानं भ्रान्तमेव। अथापि दीपप्रभायां मणिबुद्धिं कृत्वा धावता पुरुषेण मणिर्लभ्यतैव। या दीपप्रभायां मणिभ्रान्तिरस्ति स विसंवादिभ्रमः इति स्मृतो विद्वद्भिः मणिलाभलक्षणार्थक्रियारहितत्वात्। मणिप्रभायां मणिबुद्धिस्तु मणिलाभलक्षणार्थक्रियात्वात् संवादिभ्रम इत्युच्यते।'

किसी भवन में कमरे के अन्दर दीपक वर्तमान है। उसकी प्रभा द्वारप्रदेश में बाहर रत्न की भाँति टेढ़ी प्रतीत हो रही है। उसी प्रकार दूसरे घर में कमरे के अन्दर रत्न (मणि) वर्तमान है। उसकी प्रभा भी बाहर द्वारदेश में प्रदीप-प्रभा की भाँति रत्न-समान ही प्रतीत हो रही है। इस प्रकार की दोनों प्रभाओं को दूर से देखकर 'यह मणि है, यह मणि है' इस बुद्धि से पाने के लिए दो व्यक्ति उनकी ओर दौड़ते हैं। प्रदीप वाले कमरे में मणिबुद्धि से दौड़ने वाले को मणि नहीं मिलती किन्तु मणि वाले कमरे में मणिबुद्धि से दौड़ने वाले को मणि मिल जाती है। न तो दीप की प्रभा मणि थी और न मणिप्रभा ही मणि थी। दोनों में ही मणिज्ञान भ्रान्ति मात्र था। किन्तु एक स्थान पर अनुरूप फल प्राप्त हुआ, अन्यत्र नहीं। दीपप्रभा में मणिभ्रान्ति विसंवादि भ्रम है; क्योंकि मणिलाभरूप अर्थक्रिया की प्राप्ति नहीं होती है किन्तु मणिप्रभा में मणिभ्रान्ति को संवादिभ्रम कहा गया है; क्योंकि यहाँ अर्थक्रिया की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार अनुक्रियमाण रत्यादि मिथ्या होने से रसादि भ्रान्तिरूप हैं तथापि वे आनन्दानुभूति की सृष्टि करते ही हैं; क्योंकि यह भ्रम संवादिभ्रम है, अर्थक्रिया की प्रतीति से युक्त है।

इस प्रकार यद्यपि मिथ्या ज्ञान से भी यथार्थ ज्ञान की भाँति फल-प्राप्ति सम्भव है

"प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः ।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ॥
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसंप्लवः ।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया ॥" इति ।

तथापि शंकुक की दृष्टि में अनुक्रियमाण जो रति आदि रस कहे गये हैं वहाँ मिथ्या ज्ञान या भ्रान्त-प्रतीति का अवसर ही नहीं है। क्योंकि अभिनय देखते समय प्रेक्षक को नटादि में रामादि की होने वाली प्रतीति न तो सम्यक् ही कही जा सकती है क्योंकि युगों पूर्व हुए राम के रूप में वर्तमान नटरूप राम को वास्तविक नहीं माना जा सकता। और उसे मिथ्याज्ञान भी नहीं कह सकते क्योंकि तत्काल उससे रसानुभूति तो होती ही है, 'यह राम नहीं है' इस प्रकार उत्तर काल में बाधित होने पर 'यह राम है' की भी उसमें प्रतीति नहीं होती। 'राम है या नहीं' इस प्रकार की संशय-प्रतीति भी नहीं होती और न सादृश्य-प्रतीति ही होती है कि 'यह नट-राम राम तुल्य है' क्योंकि राम को देखा तो है नहीं। विना देखे सादृश्य का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता। वस्तुतः चित्रतुरग-न्याय से (जैसे चित्रस्थ घोड़े को देखकर 'यह घोड़ा ही है' इस प्रकार का सम्यक् ज्ञान या 'घोड़ा नहीं है' इस प्रकार का मिथ्या ज्ञान वा 'घोड़ा है या नहीं', इस प्रकार का संशय-ज्ञान अथवा 'घोड़े के समान है' इस प्रकार के सादृश्यज्ञान के रूप में उसकी प्रतीति को नहीं कहा जा सकता है प्रत्युत् यह प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य से विलक्षण होती है, उसी प्रकार) नट गत रामादि की प्रतीति न तो सम्यक् कही जा सकती है न मिथ्या. न संशय, न सादृश्य रूप। अपितु यह प्रतीति इन सबसे विलक्षण अलौकिक कलात्मक स्वरूप होती है। इसी को आगे प्रतिपादित करते हैं—

और यहाँ (शृङ्गारादि रस के विषय में) नट ही सुखी है (रसानुभूति करता है) इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है। और न इस प्रकार की (सम्यक् प्रतीति) ही होती है कि यह (नट) ही राम है। और न यह सुखी नहीं है (राम नहीं है) इस प्रकार का (मिथ्या) ज्ञान ही होता है। और न यह (नट) राम है या नहीं है इस प्रकार का (संशय) ज्ञान ही होता है और यह उनके (राम के) समान है इस प्रकार का (सादृश्य) ज्ञान भी नहीं होता किन्तु (चित्रतुरगादि-न्याय से सम्यक्, मिथ्या, संशय एवं सादृश्य इन सभी प्रतीतियों से विलक्षण) जो सुखी राम है वही यह (नट) है की प्रतीति होती है। (अतः इस प्रतीति को निश्चयतया मिथ्या या भ्रान्ति-रूप प्रतीति नहीं कहा जा सकता। इसी को निम्न कारिकाओं में) कहते हैं—

'(रामादि के रूप में नट को देखकर) न सन्देह की प्रतीति होती है, न यथार्थता की और न विपर्यय (भ्रान्ति या मिथ्या) प्रतीति ही होती है। (नट राम में) यह (नट) वह (राम) है इस प्रकार की तथा यह (नट) वह (राम) नहीं है इस प्रकार की भी बुद्धि होती है।' (इस प्रकार) विरुद्ध प्रतीतियों के योग से विपर्यय

तदिदमप्यन्तस्तत्त्वशून्यं न विमर्दक्षममित्युपाध्यायाः। तथा हि अनुकरणरूपो रस इति यदुच्यते तत्किं सामाजिकप्रतीत्यभिप्रायेण उत नटाभिप्रायेण किं वा वस्तुवृत्तविवेचकव्याख्यातृबुद्धिसमवलम्बनेन 'यथाहुर्व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति'। इति।

अथ भरतमुनिवचनानुसारेणाद्यः पक्षोऽसङ्गतः। किञ्चिद्धि प्रमाणेनोपलब्धं तदनुकरणमिति शक्यं वक्तुम्। यथा, 'एवमसौ सुरां पिबति'

आदि का सम्यक् विवेचन (निश्चयादि) न हो पाने के कारण स्फुरित होता हुआ वह (प्रत्यक्षस्वरूप) अनुभव (रामादिरूप) किस युक्ति से (मिथ्यात्वादिरूप में) पूर्णतः अनु क्त हो सकेगा (कहा जा सकेगा) ? (अब तक ग्रन्थकार ने भट्टलोल्लट तथा शंकुक के मतों का प्रतिपादन किया। प्रथम मत में विभावादि से उपचित रत्यादि स्थायीभाव को ही रस कहा जाता है। इसके समर्थन में दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों को भी प्रस्तुत किया गया है। शंकुक का कथन है कि, उपचित स्थायी का ही नाम रस है, नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः अनुक्रियमाण रत्यादि स्थायी ही शृङ्गारादि रस कहे जाते हैं। अनुकरण में होने वाली रामादि की प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य प्रतीतियों से विलक्षण अलौकिक प्रकार की होती है। मम्मट के काव्य-प्रकाश तथा बाद के अन्य कतिपय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी इन मतों की चर्चा है। पर विषय वहाँ इतना स्पष्ट नहीं प्रस्तुत किया गया है। आगे शंकुक के मत का खण्डन किया जा रहा है :—)

तदिदमिति—तो यह (शंकुक का अनुकरणात्मक रसवाद) भी मूलतः साररहित है, स्वीकाराई नहीं है। यह (पूज्य) उपाध्याय का मत है (यह उपाध्याय अभिनवगुप्त के गुरु सम्भवतः भट्टतौत या इन्दुराज हो सकते हैं। यहाँ उन्हीं के मुख से शंकुक का खण्डन कराया जा रहा है) क्योंकि (आप शंकुक) जो यह कहते हैं कि अनुकरण-रूप (रत्यादि) ही रस है क्या यह सामाजिक की प्रतीति के अभिप्राय से (कह रहे हैं), अथवा नट के अभिप्राय से या कि वस्तुवृत्त (यथास्थिति) के विवेचक व्याख्याता के बुद्धि का आश्रय लेकर (कह रहे हैं) ? 'जैसा कि कहा गया है व्याख्याता लोग (रससूत्र का) इस प्रकार विवेचन करते हैं।' अथवा कि भरतमुनि के कथन के अनुसार (रस को अनुकरणात्मक कह रहे हैं) ? (इन चार विरुद्ध विकल्पों को सम्मुख कर ग्रन्थकार इस मत का खण्डन करते हैं)।

पहला पक्ष (सामाजिक की प्रतीति के अभिप्राय से रस को रत्यादि स्थायी का अनुकरणरूप कहना) असंगत है। क्योंकि (किसी) प्रमाण से अधिगत (प्राप्त) ही किसी वस्तु के प्रति यह कहा जा सकता है कि वह (कोई अन्य वस्तु किसी दूसरी का) अनुकरण है। (भाव यह है कि अनुकरण उसी वस्तु का किया जा सकता है जो पहले से उपलब्ध हो, अन्यथा अनुपलब्ध का अनुकरण ही कैसे सम्भव है)। जैसे कि (दूध पीने वाला कोई व्यक्ति सुरापान करने वाले किसी व्यक्ति का अनुकरण

इति सुरापानानुकरणत्वेन पयःपानं प्रत्यक्षावलोकितं प्रतिभाति। इह च नटगतं किं तदुपलब्धं सदनुकरणतया भातीति चिन्त्यम्। तच्छरीरं तन्निष्ठं प्रतिशीर्षकादि रोमाञ्चकगद्गदिकादिभुजाक्षेपवलनप्रभृति भ्रूक्षेपकटाक्षादिकं च न रतेश्चित्तवृत्तिरूपतयानुकारत्वेन कस्यचित् प्रतिभाति। जडत्वेन [भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वेन] भिन्नाधिकरणत्वेन च ततोऽतिवैलक्षण्यात्। मुख्या [मुख्या] वलोकने च तदनुकरण प्रतिभासः। न च रामगतां रतिमुपलब्धपूर्विणः केचित्। एतेन रामानुकारो नट इत्यपि निरस्तः प्रवादः।

अथ नटगता चित्तवृत्तिरेव प्रतिपन्ना सती रत्यनुकारः शृङ्गार इत्युच्यते, तत्रापि किमात्मकत्वेन सा प्रतीयत इति चिन्त्यम्। ननु प्रमदादिभिः

करते हुए यह कहता है) 'यह इस प्रकार शराब पीता है'। इस प्रकार (यहाँ) सुरापान के अनुकरणरूप में दुग्धपान साक्षात् देखा हुआ प्रतीत होता है। किन्तु यहाँ (रस के विषय में) नटगत वह कौन-सी वस्तु उपलब्ध है जो अनुकरणरूप में प्रतीत होती है (अर्थात् नट में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं पायी जाती), यह विचारणीय है। उस (नट) का शरीर, या शरीर पर वर्तमान प्रतिशीर्षक (शिरोभूषण) आदि, या रोमाञ्च, गद्गद आदि अथवा भुजाक्षेप सञ्चलनादि तथा भौंह-सञ्चालन कटाक्षादि (वस्तुओं को क्या अनुकरणरूप समझा जाय?)। किन्तु (इनमें से कोई भी तत्व) चित्तवृत्तिरूप रति आदि के अनुकाररूप में किसी को भी प्रतीत नहीं होता (शरीर कटाक्षादि सभी के) जड़ होने से, भिन्न इन्द्रिय से ग्राह्य होने से (शरीरादि का ग्रहण चक्षु आदि इन्द्रियों से होता है जब कि रत्यादि स्थायी मन के विषय हैं), तथा भिन्न अधिकरण (आश्रय) में वर्तमान रहने से (प्रतिशीर्षक आदि का आश्रय शरीर है किन्तु रत्यादि अन्तःकरण के विषय हैं, वासनारूप से वर्तमान रहने वाले हैं) रत्यादि (स्थायीभावों) से इन कटाक्षादि का अत्यन्त भेद है। (इस प्रकार नटगत ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसे रस कहा जा सके)। और मुख्य (अनुकार्य) तथा अमुख्य (अनुकरण) के देखने पर ही उसके (मुख्य के अमुख्य द्वारा) अनुकरण का प्रतिबोध होता है। किन्तु रामादिगत (प्रधानभूत अनुकार्य) रति को किसी (सामाजिक) ने पहले से देखा नहीं है। इससे यह प्रवाद भी व्यर्थ सिद्ध हो जाता है कि नट राम का अनुकार (अनुकरण करने वाला) है।

और यदि यह कहा जाय कि नटगत (रत्यादिरूप) चित्तवृत्ति ही अवबोधित होकर रति का अनुकार शृङ्गार (कही जाती) है तो वहाँ भी यह विचार करना होगा कि, वह (नटगत रत्यादिरूप चित्तवृत्ति) किस रूप में प्रतीत होती है। यदि (पूर्वपक्षी शंकुक यह कहें कि) लिङ्गभूत प्रमदा आदि कारणों, कटाक्ष आदि कार्यों तथा धृति आदि सहचारियों से जो कारणरूप, कार्यरूप तथा सहचारिरूप लौकिक चित्तवृत्ति (रत्यादिरूप) प्रतीति योग्य होती है उसी रूप में वह नटगत चित्तवृत्ति

कारणैः कटाक्षादिभिः कार्यैः धृत्यादिभिश्च सहचारिभिर्लिङ्गभूतैर्या लौकिकी कार्यरूपा कारणरूपा सहचारिरूपा च चित्तवृत्तिः प्रतीतियोग्या तदात्मकत्वेन सा नटचित्तवृत्तिः प्रतिभाति हन्त तर्हि रत्याकारेणैव सा प्रतिपन्नेति दूरे रत्यनुकरणतावाचो युक्तिः।

ननु ते विभावादयोऽनुकार्ये पारमार्थिकाः। इह त्वनुकर्तरि न तथेति विशेषः। अस्त्वेवम्। किन्तु ते हि विभावादयोऽतत्कारणातत्कार्यातत्सहचाररूपा अपि काव्यशिक्षादिबलोपकल्पिताः कृत्रिमा सन्तः किं कृत्रिमत्वेन सामाजिकैः गृह्यन्ते न वा ? यदि गृह्यन्ते तदा तैः कथं रतेरवगतिः ?

नन्वत एव तत्प्रतीयमानं रत्यनुकरणबुद्धेः कारणम्। कारणान्तरप्रभवेषु हि (सु) शिक्षितेन तथा ज्ञाने वस्त्वन्तरस्यानुमानं तावद्युक्तम्।

भी प्रतीत होती है (और वही रस नाम से व्यपदिष्ट है) तो खेद है (ग्रन्थकार खण्डन करते हैं) कि वह (चित्तवृत्ति) रति के रूप में ही प्रतिपन्न (अवबोधित) होती है, रति के अनुकरणता की बात की युक्ति तो दूर रही (अर्थात् अनुकरणरूप रत्यादि ही रस है नहीं कहा जा सकता) ।

(अब पुनः शंकुक का पक्ष उपस्थित करते हुए कहते हैं) वस्तुतः अनुकार्य (रामादि) में वे (प्रमदादि) विभाव पारमार्थिक (वास्तविक) होते हैं (इसीलिए उनमें रत्यादि की वास्तविक प्रतीति होती है) और यहाँ अनुकर्ता (नट में) वे (विभावादि) वास्तविक नहीं होते यही दोनों में भेद हैं (इसीलिए नटगत रत्यादि की प्रतीति को रति न कहकर रति का अनुकार कहा जाता है ।)

(अब पुनः आगे खण्डन करते हैं) ऐसा ही हो (अनुकार्यगत विभावादि पारमार्थिक होते हैं तथा अनुकर्ता में अपारमार्थिक) किन्तु अतत् (अवास्तविक) कारणरूप, अतत् (अवास्तविक) कार्यरूप तथा अतत् (अवास्तविक) सहचाररूप, भी वे विभाव आदि (अनुभाव तथा संचारी) काव्यशिक्षा आदि (अभ्यास) के बल से कल्पित होने के कारण कृत्रिम होते हैं। तो क्या (कृत्रिम होने पर भी) वे सामाजिकों द्वारा कृत्रिम रूप में ही ग्रहण किये जाते हैं या नहीं (अकृत्रिम रूप में) ? यदि वे (कृत्रिम रूप में ही) ग्रहण किये जाते हैं (यह उत्तर हो) तो (उन कृत्रिम अनुभाव आदि से वास्तव) रति की अनुभूति कैसे हो सकती है ? (क्योंकि अवास्तविक कारणादि रूप अनुभाव आदि से अवास्तविक ही रत्यादि की प्रतीति संभव है)। इस पर पूर्वपक्षीय शंकुक यह कह सकते हैं कि, क्योंकि विभावादि साधन कृत्रिम होते हैं) इसीलिए तो प्रतीयमान वह (रत्यादि वास्तविक न होकर) अनुकरण-बुद्धि का कारण है (अर्थात् अनुकरणरूप रत्यादि का बोध होता है और वह अनुक्रियमाण रत्यादि ही रस कहा जाता है)।

(ग्रन्थकृत् पुनः खण्डन करते हैं) यह (कहना) अयुक्त है, (क्योंकि प्रसिद्ध कारणों से भिन्न) दूसरे कारणों से उत्पन्न कार्यों में उस प्रकार (अप्रसिद्ध कारणों) का

असु[1]शिक्षितेन तु तस्यैव प्रसिद्धस्य कारणस्य। यथा[2] वृश्चिकविशेषाद्-गोमयस्यैवानुमानम्। वृश्चिकस्यैव तत्परं मिथ्याज्ञानम्। यत्रापि लिङ्गज्ञानं मिथ्या तत्रापि न तदाभासानुमानं[3] युक्तम्। नहि बाष्पाद्धूमत्वेन ज्ञातादनुकारप्रतिभासमानादपि लिङ्गात्तदनुकारानुमानं (नम) युक्तम्।

ज्ञान होने पर सुशिक्षित (उस विषय के जानकार व्यक्ति) ही (प्रसिद्ध कारण से अतिरिक्त) अन्य वस्तु (प्रसिद्ध कारण) का उचित अनुमान कर सकते हैं। असुशिक्षित (सामान्य व्यक्ति) से तो उस प्रसिद्ध कारण (विभावादि) का ही (अनुमान संभव है)। जैसे वृश्चिक विशेष से (वृश्चिक को देखकर उसके कारणस्वरूप वृश्चिक के समान अन्य कारण) गोबर का ही अनुमान (सामान्य व्यक्ति से संभव नहीं है क्योंकि गोबर आदि के संयोग से भी बिच्छू पैदा होता है यह सभी के ज्ञान का विषय न होकर जीव-विज्ञानी का ही विषय है और यदि सामान्य व्यक्ति के द्वारा) तत्परक (गोमयरूप कारणत्व से युक्त) ही बिच्छू का अनुमान किया जाता है तो वह मिथ्या ज्ञान है (क्योंकि उसे उस अप्रसिद्ध गोमयरूप कारण का ज्ञान नहीं है। सामाजिक सामान्य प्राणी है। उसकी दृष्टि में नटगत रत्यादि अपने प्रसिद्ध कारण विभावादि से उत्पन्न होने के कारण वास्तविक ही रत्यादि होते हैं, रत्यादि के अनुकाररूप नहीं। अतः रत्यादि के अनुकरण को ही या अनुक्रियमाण रत्यादि को ही रस नहीं कहा जा सकता)।

(वस्तुतः रत्यादि प्रतीति के यहाँ दो प्रकार के कारणों का उल्लेख है। प्रथम है प्रसिद्ध या वास्तविक तथा दूसरा अप्रसिद्ध या अवास्तविक। किसी वस्तु की उत्पत्ति में इस प्रकार के दो—भिन्न कारणों के रहने पर सामान्य व्यक्ति तो कार्य की आधार पर उसके वास्तविक या प्रसिद्ध कारण का ही अनुमान करता है, किन्तु उस विषय का जानकार उसके अन्य अप्रसिद्ध या कृत्रिम कारणों का भी अनुमान कर सकने में समर्थ होता है। उदाहरण के लिए बिच्छू को ग्रन्थकार ने प्रस्तुत किया है। बिच्छू से बिच्छू पैदा होता है यह प्रसिद्ध बात है। अर्थात् वृश्चिक (बिच्छू) की उत्पत्ति में वृश्चिक एक प्रसिद्ध कारण है। इस बात को तो साधारण जन भी समझ सकते हैं, किन्तु गोमय दधि के योग से भी वृश्चिक की उत्पत्ति होती है, यह सभी नहीं जानते। यह जानकारी विषय के अधिकारी से ही सम्भव है। यहाँ विषय-विशेषज्ञ को सुशिक्षित और सामान्य व्यक्ति को असुशिक्षित कहा गया है। तो वृश्चिक की उत्पत्ति में एक दूसरा भी कारण है गोमयादि, जो अप्रसिद्ध है, जिसका अनुमान शिक्षित ही कर सकता है। तात्पर्य यह कि कार्य को देखकर सामान्य व्यक्ति उसके प्रसिद्ध कारण का ही अनुमान कर सकता है जब कि जानकार या सुशिक्षित अप्रसिद्ध कारण का भी। इसलिए सामान्य सामाजिक को नटगत रत्यादि रूप कार्यों को देखकर उसके वास्तविक या प्रसिद्ध कारणों (विभावादि) का ही अनुमान होता है। वास्तविक कारणों से उत्पन्न रत्यादि भी उसके लिए वास्तविक ही होंगे। इसलिए रति अनुकार या अनुक्रियमाण

१. म० भ०, आसुशि०। २. म० भ० तथा। ३. म० भ०, तदभ्यासानुमानं युक्तम्।

धूमानुकारत्वेन हि ज्ञायमानान्नीहारान्नाऽऽग्न्य (नाग्न्य) नुकारजपापुष्पप्रतीतिर्दृष्टा ।

नन्वक्रुद्धोऽपि नटः क्रुद्ध इव भाति । सत्यम् क्रुद्धेन सदृशः । सादृश्यं

नहीं कही जा सकती और इसीलिए अनुक्रियमाण रत्यादि ही रस हैं नहीं कहा जा सकता) ।

(आगे की पंक्तियों में इसी बात को और भी आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि) जहाँ भी (धूमादि) लिङ्ग का मिथ्या ज्ञान होता है वहाँ भी उस (अग्नि आदि) के आभास का अनुमान अयुक्त है क्योंकि धूम रूप से ज्ञात बाष्प से प्रतिभासमान भी धूमानुकार लिङ्ग से उस (वह्नि) के अनुकार का अनुमान असंगत है। या धूमानुकार (धूमसदृश) से प्रतीत होने वाले नीहार (कुहरे) से अग्नि के अनुकार (सदृश) जैसे प्रतीत होने वाले जपाकुसुम (गुडहल पुष्प) की प्रतीति नहीं देखी जाती । (अतः इसी प्रकार अवास्तविक या कृत्रिम विभावादि से कृत्रिम रत्यादि की भी प्रतीति सभव नहीं है। इसलिए अनुक्रियमाण रत्यादि को रस नहीं कहा जा सकता) ।

(वस्तुतः ऊपर की पंक्तियाँ कुछ उलझी हुई हैं। ग्रन्थकार का अभिप्राय इस प्रकार है। इसके पहले शंकुक का खण्डन करने के लिए एक ही कार्य के अनेक कारणों से उत्पन्न हाने का निदर्शन प्रस्तुत किया गया है जहाँ साधारणत किसी कार्य के प्रसिद्ध कारण का ही अनुमान किया जाना संभव है। प्रकृत में ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है जहाँ एक कार्य का उत्पादक एक ही कारण होता है। उस कार्य से उसके कारण का अनुमान किया जाता है। उदाहरणार्थ अग्निरूप साध्य या कार्य के साधनभूत (कारण) धूम को लिया जा सकता है। यहाँ अग्नि को देखकर उसके कारणस्वरूप केवल धूम का अनुमान होता है। इसी प्रकार यदि वास्तविक या पारमार्थिक कारण विभावादि को रत्यादि की उत्पत्ति मे कारण माना जाय, न कि, कृत्रिम विभावादि का, तो भी शंकुक का यह सिद्धान्त अयुक्त हो जाता है कि, अनुक्रियमाण रत्यादि ही रस है, क्योंकि वास्तविक विभाव आदि से रत्यादि की उत्पत्ति होने पर कृत्रिम रत्यादि या रत्यादि के अनुक्रियमाणस्वरूप की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। जैसे (अकृत्रिम) धूम से अकृत्रिम वह्नि का अनुमान किया जाता है किन्तु यदि धूलिपुञ्ज या कुहरे को धूम मानकर वहाँ वह्नि का अनुमान किया जाय तो उसे मिथ्या ज्ञान या अग्नि का अनुमानाभास ही कहेंगे पर उसे मिथ्या या कृत्रिम अग्नि अथवा अग्न्याभास का अनुमान नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अप्रसिद्ध या कृत्रिम विभाव आदि से रत्यादि की मिथ्या या भ्रान्त-प्रतीति हो सकती है किन्तु उसे कृत्रिम रत्यादि या रत्यादि का अनुकरण नहीं माना जा सकता। अतः अनुक्रियमाण रत्यादि ही रस है कहना असंगत है) ।

(पूर्वपक्षी शंकुक की ओर से कहा जा सकता है कि) क्रुद्ध न होने पर भी नट (अभिनय की स्थिति में) क्रुद्ध-सा प्रतीत होता है। (इसे क्रोध का अनुकरण ही कहा

च भ्रुकुट्यादिभिः। गौरिव गवयेन मुखादिभिरिति। नैतावताऽनुकारः कश्चित्। न चापि सामाजिकानां सादृश्यमतिरस्ति। सामाजिकानां च न भावशून्या नर्तके प्रतिपत्तिरित्युच्यते। अथ च तदनुकारप्रतिभास इति रिक्ता वाचो युक्तिः।

यच्चोक्तं रामोऽयमित्यस्ति प्रतिपत्तिः तदपि यदि तद्रात्वेति (वि) निश्चितं तदुत्तरकालभाविबाधकवैधुर्याभावे कथं न तत्त्वज्ञानं स्यात्। बाधकसद्भावे वा कथं न मिथ्याज्ञानम्। वास्तवेन च वृत्ते बाधकानुदयेऽपि मिथ्याज्ञानमेव स्यात्। तेन विरुद्धबुद्धिसंभेदादित्यसत्। नर्तकान्तरेऽपि च रामोऽयमिति प्रतिपत्तिरस्ति। ततश्च रामत्वं सामान्यरूपमित्यायातम्।

यच्चोच्यते विभावाः काव्या[१]दनुसन्धीयन्ते (इति) तदपि न विद्मः।

जा सकता है)। इस प्रकार रत्यादि के अनुकरण या अनुक्रियमाण रत्यादि को रस मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

(इसका भी खण्डन करते हैं 'सत्यमित्यादि' के द्वारा):—(शंकुक के पक्षधरों का उक्त कथन) सत्य है। (वहाँ अभिनय की स्थिति में नट द्वारा क्रोध का अनुकरण नहीं किया जाता, अपितु वह) क्रुद्ध के समान (प्रतीत होता है)। और यह सादृश्य भ्रुकुटि आदि के (विकारों) द्वारा होता है। जैसे (गौरिव गवयः) के उदाहरण में मुखादि (साम्य) के द्वारा गवय का गौ के साथ सादृश्य देखा जाता है। पर इससे कोई अनुकार (अनुकरणभाव) तो नहीं बनता। और सामाजिकों में (नट के प्रति राम की) सादृश्य-बुद्धि भी नहीं होती। (यदि नट में सामाजिकों को राम की सादृश्य-प्रतीति होने लगे तो उनमें नट के प्रति कोई भाव नहीं रह जायगा किन्तु कहा जाता है कि नट के प्रति सामाजिकों की प्रतीति भावशून्य नहीं होती। और तिस पर भी उस (रत्यादि) के अनुकरण का प्रतिभास होता है, कहना ही तर्कहीन है।

और (पूर्वपक्षी) ने जो यह कहा है कि (नट में) यह राम है की, प्रतीति होती है। यदि वह (यह राम है की प्रतीति) होती भी है तो तद्रूपता तो निश्चित ही है। उसके पश्चात् (उत्तरकाल) में होनेवाले बाधक के अभाव में वह तत्त्वज्ञान क्यों न माना जाय? अथवा बाधक होने पर उसे मिथ्या ज्ञान क्यों न कहा जाय? और वास्तव में वृत्त (कथानक) में बाधक की उपस्थिति न होने पर भी (रामोऽयमित्यादि प्रतीति) मिथ्या ज्ञान ही होगी। इसलिए (इसके पूर्व कारिका में जो यह कहा है कि) 'विरुद्ध प्रतीतियों के योग से' (विपर्यय आदि का सम्यग् विवेचन न हो पाने के कारण स्फुरित होता हुआ वह अनुभव किस युक्ति से (मिथ्यात्वादि रूप में) पूर्णतः अनुयुक्त हो सकेगा), अनुपयुक्त है। क्योंकि दूसरे नटों में भी 'यह राम है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इसलिए रामत्व सामान्य रूप है यह सिद्ध होता है।

और जो यह कहते हैं कि 'विभाव काव्य से जाने जाते हैं' वह भी समझ में नहीं

---

१. म० भ० कार्या।

न हि, 'ममेयं सीता काचित्' इति स्वात्मीयत्वेन प्रतिपत्तिर्नटस्य। अथ सामाजिकस्य तथा प्रतीतियोग्याः क्रियन्त इत्येतदेवानुसन्धानमुच्यते तर्हि स्थायिनि सुतरामनुसन्धानं स्यात्। तस्यैव हि मुख्यत्वेन, 'अस्मिन्नयम्' इति सामाजिकानां प्रतिपत्तिः।

यत्तु 'वाग्वाचिकम्' इत्यादिना भेदाभिधानसंरम्भगर्भमहीयानभिनयरूपताविवेकः कृतः स उत्तरत्र स्वावसरे (ना० शा० अ० १४) चर्चयिष्यते। तस्मात्सामाजिकप्रतीत्यनुसारेण स्थाय्यनुकरणं रस इत्यसत्।

न चापि नटस्येत्थं प्रतिपत्तिः, 'रामं तच्चित्तवृत्तिं वाऽनुकरोमि' इति। सदृशकरणं हि तावदनुकरणमनुपलब्धप्रकृतिना न शक्यं कर्तुम्। अथ-पश्चात् करणमनुकरणं तल्लोकेऽप्यनुकरणात्मता[1]तिप्रसक्ता। अथ न नियतस्य कस्याचिदनुकारः अपि तु उत्तमप्रकृतेः शोकमनुकरोति तर्हि केनेति

आता (अनुपयुक्त है)। (क्योंकि) 'यह सीता मेरी है' इस प्रकार की नट को (सीता के प्रति) कोई स्वीयत्व की प्रतीति नहीं होती। और यदि अनुसन्धान इसी को कहते हैं कि, (विभाव आदि) सामाजिक के लिए उस प्रकार से प्रतीति-योग्य किये जाते हैं तो स्थायी (रत्यादि) में वह अनुसन्धान अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि उसी (रत्यादि स्थायी) की प्रधानता से इस (नट में) यह (रामादि) है की सामाजिकों को प्रतीति होती है।

और जो (आप शंकुक ने) 'वाग्वाचिकम्' इत्यादि के द्वारा (वाक् और वाचिक अभिनय का भेद-प्रदर्शन करते समय) भेद-कथन की महिमा से युक्त महान् अभिनयरूपता का विवेचन किया है (अपने अभिनयविद् होने का प्रदर्शन किया है) उसकी बाद में अपने उपयुक्त अवसर पर (नाट्यशास्त्र के चौदहवें अध्याय में) चर्चा करेंगे। इसलिए सामाजिक की प्रतीति के अनुसार स्थायीभाव का अनुकरण ही रस है, यह (शंकुक का) कथन अयुक्त है।

(शंकुक ने स्थायीभाव में अनुकरण को रस कहा है। ग्रन्थकार ने खण्डन के लिए चार तथ्यों का सहारा लिया है कि क्या सामाजिक, नट, व्याख्याकार अथवा भरतमुनि की दृष्टि से स्थायी के अनुकरण को रस कहा जायगा? अब तक प्रथम पक्ष—सामाजिक के अनुसार स्थायीभाव को रस कहा जाय—का खण्डन प्रस्तुत किया गया। अब आगे नट के अभिप्राय को लेकर स्थायी के अनुकरण को रस मानने का खण्डन करेंगे 'न चापि' आदि से)।

और नट को भी इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती कि, 'राम अथवा उनकी चित्तवृत्ति का मैं अनुकरण कर रहा हूँ। (किसी के) सदृश (व्यवहारादि) करना अनुकरण कहा जाता है। वह प्रकृति (रामादि) की समुपलब्धि के बिना करना संभव नहीं है (क्योंकि रामादि प्रकृति को नट ने कभी देखा नहीं है अतः उनक समान

---

१. म० भ० त्मकेऽति।

च्चिन्त्यम्। न तावच्छोकेन तस्य तदभावात्। न चाश्रुपातादिना शोकस्यानुकारः तद्वैलक्षण्यादित्युक्तम्। इयत्तु स्यात्-उत्तम प्रकृते र्ये शोकानुभावाःताननुकरोमीति। तत्रापि कस्योत्तमप्रकृतेः। यस्य कस्यचिदिति चेत्सोऽपि विशिष्टतां विना कथं बुद्धावारोपयितुं शक्यः। य एवं रोदितीति चेत्मामपि मध्ये नटस्यानुप्रविष्ट इति गलितोऽनुकार्यानुकर्तृभावः।

व्यापार कर नहीं सकता। इसलिए नट राम का अनुकरण नहीं कर पायेगा)। (और यदि अनुकरण का दूसरा अर्थ लगाया जाय) पश्चात् करण अनुकरण तो लोक में भी अनुकरणस्वरूपता प्रसक्त हो जायगी (माननी पड़ेगी) (क्योंकि न केवल नट प्रत्युत यह संपूर्ण लोक ही रत्यादि की प्रतीति करता ही है। 'अनुपश्चात् करणं अनुकरणम्' मानने पर रामादि की रति को देखकर उसमें भी अनुकरणात्मकता को मानना पड़ेगा क्योंकि रत्यादि की अनुभूति तो उन्हें भी बाद में होती ही है। इस प्रकार लौकिक रत्यादि में रसानुभूति को मानना पड़ जायेगा)।

(और यदि यह कहा जाय) कि किसी निश्चित (रामादि) का (नट के द्वारा) अनुकरण नहीं किया जाता है, अपितु वह उत्तम प्रकृति (नायकादि) के शोक (आदि) का अनुकरण करता है तो वह किस (साधन) से अनुकरण करता है, यह विचारणीय है। शोक के द्वारा (उत्तम प्रकृति के शोकादि का अनुकरण करता है) नहीं माना जा सकता क्योंकि शोक का उस (नट) में अभाव है (अनुकर्ता नट में शोकादि तो पाये नहीं जाते)। और अश्रुपात आदि के द्वारा भी शोक का अनुकरण नहीं किया जा सकता (क्योंकि) उससे (अश्रुपातादि से) उसमें विलक्षणता है, यह पहले ही कह चुके हैं (शोक चित्तवृत्ति रूप मन का व्यापार है जब कि अश्रुपातादि दैहिक क्रिया कलाप हैं। अतः दोनों में विशेषता है। इसलिए अश्रुपातादि से शोक का अनुकरण नहीं किया जा सकता।)

इयत्तु इति = इतना तो हो सकता है—उत्तम प्रकृति के जो शोक आदि अनुभाव मैं (नट) उनका अनुभव करता हूँ। वहाँ भी (प्रश्न हो सकता है कि वह नट) किस उत्तम प्रकृति के (शोकानुभावों का अनुकरण करता है)। यदि कहा जाय कि, जिस किसी के (शोकानुभावों का अनुकरण करता है), तो वह भी बिना किसी विशिष्टता के किस प्रकार बुद्धि में आरोपित किया जा सकता है (जिस किसी का कह देने से सामान्य का बोध होता है किन्तु नियम है कि सामान्य में भी कोई न कोई विशेष रहता ही है 'निर्विशेष न सामान्यम्।' अतः जब तक किसी उत्तम प्रकृति का निर्देश नहीं कर दिया जाता तब तक यह निर्णय कैसे किया जा सकता है कि वह नट किस के शोकादि अनुभावों का अनुकरण कर रहा है ग्रन्थकार का यहाँ यही अभिप्राय है)। और यदि जो इस प्रकार (मेरे नट जैसा) रोता है (उसका मैं अनुकरण करता हूँ) यह माना जाय तो प्रतीति में नट का स्वरूप भी अनुप्रविष्ट हो जायगा (वस्तुतः यदि नट यह समझकर अनुकरण करे कि, मेरे जैसा जो आचरण करता है उसी का मैं अनु-

किञ्च नटः शिक्षावशात्स्वभावस्मरणाच्चित्तवृत्तिसाधारणीभावेन हृदयसंवादात्केवलमनुभावान्प्रदर्शयन् काव्यमुपचितकाकुप्रभृत्युपस्कारेण पठंश्चेष्टत इत्येतावन्मात्रेऽस्य प्रतीति[1]र्नत्वनुकार वेद्यते। कान्तवेषानुकारवद्धि[2] न रामचेष्टितस्यानुकारः। एतच्च प्रथमाध्यायेऽपि दर्शितमस्माभिः। नापि वस्तुवृत्तानु[3]सारेण तदनुकारत्वम्। अनुसवेद्यमानस्य वस्तुवृत्तत्वानुपपत्तेः। यच्च वस्तुवृत्तं तद्दर्शयिष्यामः। न च मुनिवचनमेवंविधमस्ति क्वचित्स्थाय्यनुकरणं रसा इति। नापि लिङ्गमात्रार्थं मुनेरुपलभ्यते। प्रत्युत ध्रुवा गानतालवैचित्र्यलास्याङ्गोपजीवनं (न) निरूपणादिविपर्यये लिङ्गमिति सन्ध्यङ्गाध्यायान्ते वितनिष्यामः। 'सप्तद्वीपानुकरणम् (ना० शा० १-११७) इत्यादि त्वन्यथापि शक्यगमनिकमिति। तदनुकारेऽपि च क्व नामान्तरं कान्तावेषगत्यनुकरणादौ।

करण करता हूँ तो ऐसे में उत्तम प्रकृति नायक आदि का उतना बोध नहीं होगा जितना नट का। अतएव प्रतीति-काल में, जैसा कि ग्रन्थकार का अभिमत है, नट का स्वरूप भी प्रतीत होने लगेगा, सीतारामादि का नहीं। वस्तुतथ्य तो यह है कि ऐसे प्रधानतया प्रतीति नट की ही माननी होगी)। इसलिए अनुकार्य अनुकर्तृभाव समाप्त हो जायगा (ऐसा मानने पर रामादि उत्तम प्रकृति अनुकार्य हैं, नट उनका अनुकर्ता है यह प्रक्रिया ही गलत हो जायगी)।

(नटाभिप्राय से अनुकरण को रस कहा गया है, को ही आगे समाहित करते हुए कहते हैं कि,) और क्या नट शिक्षा (अभ्यासादि) के द्वारा (रामादि) विभावों के स्मरण से अपने चित्तवृत्ति के साधारणीकरणभाव से हृदय के संवाद (एकरूपता) द्वारा केवल तदनुरूप विभावों का प्रदर्शन करता हुआ प्रवृद्ध काकु 'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' आदि की सहायता से काव्य का (काव्योपात्त रामादि की क्रियाओं का) पाठ करता हुआ (तदनुरूप) चेष्टा करता है, इतने मात्र में ही इस अनुकरणता की प्रतीति होती है न कि वह नट अनुकार (अनुकरण) का बोध कराता है? (यदि हाँ तो नटादि द्वारा रामादिगत रत्यादि का अनुकरण ही रस है, असिद्ध हो जाता है क्योंकि) रमणी के वेष के अनुकार (अनुकरण) के समान राम (आदि) की चेष्टाओं का अनुकरण नहीं होता (इसलिए रत्यादि का अनुकरण ही रस है कहना अयुक्त है)। इसे तो हमने प्रथम अध्याय में भी दिखाया है (नाट्यशास्त्र प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने दिखाया है कि नाट्य अनुकार नहीं है···'तत्र नाट्यं लौकिकपदार्थव्यतिरिक्तं तदनुकारप्रतिबिम्ब···इन्द्रजालादि विलक्षणम्·····')।

(अब तक श्रीमदभिनवगुप्ताचार्य ने शंकुक के संभावित मत, नटाभिप्राय से रत्यादि के अनुकरण को रस कहा है, का खण्डन किया। आगे तृतीय पक्ष वस्तुवृत्त के विवेचकों के अभिप्राय से रत्यादि स्थायी के अनुकरण को रस कहा गया है, का खण्डन करेंगे)।

---

१. म० भ० तिनत्व। २. म० भ० वधिन। ३. म० भ० वस्तुत्वानु।

यच्चोच्यते वर्णकैर्हरितालादिभिः संयुज्यमान एव गौरित्यादि। तत्र यद्यभिव्यज्यमान इत्यर्थोऽभिप्रेतः। तदसत्। नहि सिन्दूरादिभिः पारमार्थिको गौरभिव्यज्यते प्रदीपादिभिरिव। किन्तु तत्सदृशः समूहविशेषो

और वस्तुवृत्त (के व्याख्याता) के अनुसार भी उस (स्थायी) का अनुकरण नहीं हो सकता, क्योंकि बाद में संवेद्यमान (प्रतीत होने वाले) को वस्तुवृत्त नहीं कहा जा सकता। और जो वस्तुवृत्त है उसे आगे (हम ग्रन्थकार) प्रदर्शित करेंगे। (और अब आगे अन्तिम पक्ष भरतमुनि के कथनानुसार स्थायी के अनुकरण को रस कहा है, का खण्डन करेंगे)।

और भरतमुनि का भी कहीं इस प्रकार का कथन नहीं है कि 'स्थायी का अनुकरण रस है।' और न मुनि द्वारा लिङ्गमात्र के अर्थ में (कोई वचन) उपलब्ध होता है (जिसके द्वारा यह अनुमान किया जाय कि स्थायी के अनुकरण को ही रस कहा जाता है)। प्रत्युत इसके विपरीत (कि स्थायीभाव का अनुकरण रस है) आगे सन्ध्यङ्ग अध्याय के अन्त में यह सविस्तार प्रतिपादित किया जायगा कि ध्रुवा (गीति-भेद का नाम), गान, ताल के सौन्दर्य तथा लास्याङ्ग आदि (अभिनय के उपजीवन) परिपोषक का निरूपण आदि लिङ्ग हैं (रसादि के अनुमापक हैं)। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय के १२० वें श्लोक में जो यह कहा गया है कि 'सातों द्वीपों का अनुकरण यह नाट्य है' तो इसकी अन्यथा भी व्याख्या की जा सकती है। (यहाँ ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि यदि शंकुक की ओर से यह कहा जाय कि आप भरतमुनि ने उक्त स्थल पर यह कहा है कि सातों द्वीपों (के चरित्र आदि) का अनुकरण नाट्य है तो इस आधार पर रत्यादि के अनुकरण को भी स्वीकार कर उसे ही रस मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। यद्यपि शंकुक का यह कथन उपयुक्त है तथापि इसकी व्याख्या अन्य प्रकार से भी की जा सकती है। इसी के परिसर में आगे 'तदनुकारेऽपि' आदि के द्वारा विवेचन करेंगे)।

उस (स्थायी) के अनुकरण में भी उसका दूसरा नाम (रस) कहाँ (से हो सकता है)? (वैसे ही जैसे) कान्ता के वेष-गति आदि के अनुकरण में अन्य नाम कहाँ (दिया जाता है)? (इसलिए 'सप्तद्वीपानुकरणम्' आदि के आधार पर रसादि को स्थायी का अनुकरण नहीं कहा जा सकता। भरतमुनि के उक्त कथन का तात्पर्य स्थायी का अनुकरण नहीं है)।

और (पूर्वपक्षी की ओर से) जो यह कहा जाता है कि आलेख्य में हरिताल आदि वर्णों के संयुज्यमान होने पर गाय आदि की प्रतीति होती है (वैसे ही विभावादि के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है और जैसे वर्णों के संयोग से उत्पन्न वस्तु 'गौः' नामान्तर से व्यपदिष्ट होती है वैसे ही विभावादि के संयोग से उत्पन्न रत्यादि में भी नामान्तर रस का योग हो जाता है) तो वहाँ यदि संयुज्यमान का (उभय पूर्वपक्षी को) अभिव्यज्यमान अर्थ अभीष्ट है तो वह अयुक्त है; क्योंकि जिस प्रकार प्रदीप

निर्वर्त्यते। अत एव सिन्दूरादयो गवावयवसन्निवेशसदृशेन सन्निवेश-विशेषेणावस्थिता गोसदृशमिति प्रतिभासस्य विषयः। नैवं विभावादिसमूहो रतिसदृशता प्रतिपत्ति ग्राह्यः। तस्माद्भावानुकरणं रसा इत्यसत।

येन त्वभ्यधायि—सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्येव। साङ्ख्यदृशा सुखदुःखस्वभावो रसः। तस्यां च सामग्र्यां (त) त्स्थानीया विभावाः। संस्कारकाः अनुभावव्यभिचारिणः। स्थायिनस्तु

आदि से वास्तविक (पारमार्थिक) गो की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार सिन्दूर आदि वर्णों से वास्तविक गो की अभिव्यक्ति नहीं होती। किन्तु उस (गो) के सदृश (अवयवों के) समूह-विशेष की संरचना होती है। इसलिए गाय के अवयव-सन्निवेश के समान सन्निवेश-विशेष से अवस्थित सिन्दूरादि (यह चित्रार्पित गाय) गाय के सदृश है, इस प्रतीति के विषय होते हैं। (किन्तु) इसी प्रकार विभावादि समूह भी रति की सदृशता की प्रतीति के समान ग्राह्य नहीं हैं (अर्थात् विभावादि रत्यादि के समान हैं, की प्रतीति नहीं होती)। इसलिए ('रत्यादि भावों का अनुकरण रस है') यह (शंकुक का) कथन अयुक्त है। (इस प्रकार ग्रन्थकार ने अब तक उपाध्याय के मुख से शंकुक के अनुकृतिवाद का खण्डन किया। अब आगे सांख्यवादी के मत का विरोध प्रस्तुत करेंगे 'येन' आदि के द्वारा)।

'लोचन' में शङ्कुक का पूर्व मत से विरोध और उनका अभिमत पक्ष इस प्रकार है—

'प्रवाहधर्मिण्यां चित्तवृत्तौ चित्तवृत्तेः चित्तवृत्त्यन्तरेण कः परिपोषार्थः? विस्मयशोक-क्रोधादेश्च क्रमेण तावन्न परिपोष इति नानुकार्ये रसः। अनुकर्तरि च तद्भावे तयाद्य-ननुसरणं स्यात्। सामाजिकगते वा कश्चमत्कारः? प्रत्युत करुणादौ दुःखप्राप्तिः। तस्मान्नायं पक्षः। कस्तर्हि? इहानन्त्यान्नियतस्यानुकारो न शक्यः, निष्प्रयोजनश्च, विशिष्टताप्रतीतो ताटस्थ्येन व्युत्पत्त्यभावात्।

तस्मादनियतावस्थात्मकं स्थायिनमुद्दिश्य विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयुज्य-मानैरयं रामः सुखीति स्मृतिविलक्षणा स्थायिनि प्रतीतिगोचरतया स्वादरूपा प्रतिपत्तिरनु-कर्त्रालम्बना नाट्यैकगामिनी रसः। स च न व्यतिरिक्तमाधारमपेक्षते। किं त्वनुकार्या-भिन्नाभिमते नर्तके आस्वादयिता सामाजिक इत्येतावन्मात्रमदः। तेन नाट्य एव रसः, नानुकार्यादिष्विति केचित्। (पृ० १९४-५)

रसगंगाधर में इसे दो पंक्तियों में कह दिया गया है—

'दुष्यन्तादि गतो रत्यादिर्नटे पक्षे दुष्यन्तत्वेन गृहीते विभावादिभि कृत्रिमैरप्य-कृत्रिमतया गृहीतैर्भिन्ने विषयेऽनुमितिसामग्र्या बलवत्त्वादनुमीयमानो रसः।' (र० गं०, पृ० २७)

यह मत काव्य-प्रकाशमें संक्षेप में दिया गया है।

जिस (सांख्यवादी) ने कहा है कि सुख-दुःखादि के उत्पादन की शक्ति से युक्त

तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावा इति। तेन 'स्थायिभावान् रसत्वम्' इत्यादावुपचारमङ्गीकुर्वता ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौख्यात् प्रामाणिको जनः परिरक्ष(क्षि)त इति किमस्योच्यते। यत्त्वत्यन्तं नः प्रतीति वैषम्यप्रसङ्गादि तत्किं यदत्रोच्यताम्।

विषय-सामग्री (रस की उत्पादयित्री विभावादि सामग्री) बाह्य ही होती है। इस प्रकार सांख्य की दृष्टि से रस सुख-दुःखरूप है (वस्तुतः सांख्य के अनुसार संसार के सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक होते हैं इसलिए रस भी सुख, दुःख तथा मोहरूप होता है)। और उस सामग्री में विभाव दाल स्थानीय होते हैं तथा अनुभाव और व्यभिचारी संस्काररूप (आगे व्यञ्जन आदि का उदाहरण दिया गया है उसी को ध्यान में रखकर यहाँ दाल-तथा संस्कार (छौंक) आदि का सादृश्य प्रस्तुत किया गया है)। उस सामग्री (दाल-स्थानीय विभाव तथा संस्कारस्थानीय अनुभाव व्यभिचारी) से उत्पन्न (रत्यादि आन्तर) स्थायी तो सुख, दुःख तथा मोहरूप होते हैं (तात्पर्य यह कि जिस प्रकार बाह्य सामग्री दाल और छौंक घी आदि संस्कार से उसमें आस्वाद्य अन्तःग्राह्य रस की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार बाह्य सामग्री विभावादि के द्वारा रत्यादि स्थायीरूप रस की उत्पत्ति होती है। यह आन्तर है, बाह्य नहीं)।

(अब आगे ग्रन्थकार वाक्चातुरी से इस मत का खण्डन करेंगे—तेनेत्यादि से) उसने (सांख्य के अनुसार रस को सुखदुःखात्मक मानने वाले ने) 'स्थायीभावों को रसभाव को प्राप्त करावेंगे' इत्यादि भरतमुनि के कथन में उपचार (लक्षणा) स्वीकार करते हुए, ग्रन्थ के साथ (अपने मत के) विरोध को स्वयं जानते हुए (हम-जैसे) प्रामाणिक लोगों की दोष के आविष्कार की मूर्खता से रक्षा कर ली। इसलिए उसके लिए क्या कहा जाय ? और दूसरी बात जो यहाँ है (कि रस को सुख, दुःख, मोहस्वरूप मानने पर एक साथ ही तीन प्रकार की परस्पर-विरोधी प्रतीतियों के योग में) प्रतीति की विषमता का प्रसङ्ग आदि इसकी (व्यर्थता के विषय में) कितना कहा जाय (अर्थात् यह सांख्यवादी रस-सिद्धान्त भी अयुक्त है)।

(उपर्युक्त पंक्तियों में 'उपचार' पद आ गया है। विवेचन अपेक्षित है)। ऊपर सांख्यवादी ने अनुभाव को दालस्थानीय, विभाव-व्यभिचारी को संस्कारस्थानीय बाह्य तथा इन बाह्य सामग्री से उत्पन्न स्थायी को आन्तर माना है। और भरतमुनि ने कहा है, 'स्थायीभावों को रसभाव को प्राप्त करावेंगे'—'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः।' यहाँ स्थायीभावों की पूर्वतः अवस्थिति बतायी गयी है, किन्तु सांख्यवादी इसे बाह्य सामग्री से उत्पन्न स्वीकार करता है। इस प्रकार वह भरत के उक्त कथन में 'स्थायी' के प्रयोग को उपचार (गौण) मानता है क्योंकि स्थायी तो बाह्य सामग्री-जन्य होते हैं। अतः स्थायी को उपचार मानने से अपने आप ग्रन्थ से विरोध उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार व्याख्याता की अपनी मूर्खता स्वयं व्यक्त हो जाती है।

भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते। नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादे-

अभिनव ने उपहासपूर्वक बताया है कि ऐसी मूर्खता करते हुए व्याख्याता ने हम लोगों को मूर्ख बनने से बचा लिया। दूसरा दोष उक्त मत में यह है कि रस को यदि सुख-दुःख तथा मोहरूप माना जाय तो उसमें एक साथ रस-प्रतीति में त्रिधा प्रतीतियाँ होने लगेंगी। इस प्रकार प्रतीति-विषमता पैदा हो जायगी, आनन्द कहाँ से होगा? अतएव उक्त सांख्यवादी मत अयुक्त है।

(अब ग्रन्थकार भट्टनायक के मत को उपस्थित कर उसका खण्डन करेंगे। भट्टनायक का सिद्धान्त काव्यप्रकाश में भी सूक्ष्म रीति से प्रस्तुत किया गया है। भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद, शंकुक के अनुमिति या अनुकृतिवाद तथा अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद इन तीनों का ही भट्टनायक ने विरोध किया है। भट्टलोल्लट प्रधानतया अनुकार्य रामादि तथा उसके सम्बन्ध से गौणतया नट में रस की उत्पत्ति या निष्पत्ति मानते हैं। किन्तु दोनों ही तटस्थ हैं, उदासीन हैं, रस की प्रतीति तो सामाजिक में होती है। अतः उत्पत्तिवाद का सिद्धान्त गलत है। इसी प्रकार रस की प्रतीति या अनुमिति वाला शंकुक का सिद्धान्त भी अयुक्त है। शंकुक भी नट में रस की प्रतीति मानते हैं, संस्कारवश सामाजिक को भी उसकी अनुमिति होती है। परोक्ष ज्ञानरूप अनुमिति साक्षात्कारात्मक रसानुभूति कराने में असमर्थ है अतः यह मत भी अयुक्त है। अभिनवगुप्त के अनुसार रस की अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) होती है। यह अभिव्यक्ति तटस्थ राम या नट में न होकर सामाजिक में होती है। भट्टनायक के मत में यह मत भी दुष्ट है, क्योंकि अभिव्यक्ति पूर्व से वर्तमान ही किसी वस्तु की होती है जैसे अन्धेरे में रखे घट की दीपक आदि से। रस अनुभूति का विषय है। अनुभूति-काल में ही उसकी अवस्थिति मानी जा सकती है, उसके पूर्व या पश्चात् नहीं। इसलिए रस को अभिव्यक्ति भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार भट्टनायक ने तीनों मतों का खण्डन किया है। खण्डन कर उन्होंने रसानुभूति के नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसमें तीन तत्त्व प्रधान हैं—अभिधा, भावना या भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार। अभिधा द्वारा काव्य या नाटक की सामग्री सामाजिक के समक्ष उपस्थित होती है। द्वितीय व्यापार-भावकत्व से सीता-रामादि का परिहार होकर साधारणीकरण हो जाता है और अन्तिम तृतीय व्यापार भोजकत्व से रस का भोग या आस्वादन होता है। इस प्रकार अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के पूर्व भट्टनायक पूर्वोक्त तीन मतों का खण्डन प्रस्तुत करेंगे)।

भट्टनायक तो कहते हैं कि, रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है (क्योंकि उदासीन नटादि में रस की प्रतीति या उत्पत्ति हो तो उससे सामाजिक को क्या लाभ होगा? अभिव्यक्ति तो पूर्व से अवस्थित वस्तु की होती है, रस के विषय में ऐसी कोई बात नहीं है। अब आगे भट्टनायक के मुख से

रविभावत्वात् स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ[1] साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रलङ्घनादेरसाधारण्यात्। न च तद्वतो रामस्य स्मृतिः[2]। अनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता प्रयुक्ता (सताऽपि युक्ता) प्रत्यक्षादिव। नायकयुगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्त्यन्तरोदयः[3]। व्यग्रतयाऽकाश

स्वगत या सामाजिक-गत रस-प्रतीतिका खण्डन कराया जायगा)। क्योंकि स्व (सामाजिक) गत (करुण आदि रसों की) प्रतीति मानने पर करुण रस में (सामाजिक को भी) दुःखभाव होगा। और वह (दुःखित्व) प्रतीति युक्त नहीं है (क्योंकि रस-प्रतीति में आनन्दानुभव होता है)। (प्रतीति की अयुक्तता के चार कारण उपस्थित किये गये हैं) सीता आदि के विभावरूप में उपस्थित न होने से और (अभिनय के समय) अपनी स्त्री आदि का संवेदन (स्मरण) न होने से, देवता आदि (विभावों) में साधारणीकरण की उपयुक्तता न होनेसे तथा (हनुमदादिकृत समुद्र-लंघन आदि का साधारणीकरण असम्भव होने के कारण) समुद्र-लंघन आदि की असाधारणता के कारण (सामाजिक को स्वगतत्वरूप में रस-प्रतीति सम्भव नहीं है)। (वस्तुतः रसानुभव की स्थिति में सीता आदि विभाव की पृथक् प्रतीति न होकर उनका साधारणीकरण हो जाता है और यदि स्वगत रस की प्रतीति या अनुमिति मानी जाय तो ठीक नहीं है, क्योंकि करुणादि में यदि दुःखित्व आदि की प्रतीति होगी तो उस दशा में सीता आदि विभाव विभावरूप से नहीं प्रतीत होंगे। प्रतीति-काल में कारणरूप विभावादि का ज्ञान अपेक्षित है)। सीता आदि तो सामाजिक के विभाव नहीं हैं। शकुन्तला आदि में अगम्यात्व आदि का बोध होने से अपनी स्त्री की प्रतीति नहीं होती अर्थात् साधारणीकरण नहीं हो पाता। यही बात, देवताओं आदि के प्रति पूज्यत्वभाव होने से, उनमें भी लागू होती है, साधारणीकरण असम्भव है। समुद्र-लंघन आदि असाधारण कार्य हैं, सामाजिक में साधारणीकरण के अभाव में उनकी प्रतीति कैसे हो सकती है? इस विषय को रस-गंगाधर में पण्डितराज ने सविस्तार स्पष्ट किया है। रस-प्रतीति स्मृत्यादि रूप भी नहीं है, को बतलाते हैं 'न चादि' के द्वारा। और 'न तद्वान्' (रत्यादि युक्त) राम की स्मृति (रूप ही वह रस-प्रतीति) हो सकती है। (स्मृति, पहले से उपलब्ध वस्तु की होती है पर यहाँ रत्यादि युक्त राम की, क्योंकि पहले से) उपलब्धि नहीं है। (परोक्ष ज्ञान के उत्पादक) शब्द-अनुमान आदि प्रमाणों से भी रस की प्रतीति में लोक (सामाजिक) को प्रत्यक्ष (ज्ञान से होने वाली सरसता की प्रतीति) की भाँति सरसता की प्रतीति नहीं होगी (इसलिए रस-प्रतीति को शब्द या अनुमान का विषय नहीं बनाया जा सकता)। (और यदि लौकिक प्रत्यक्ष की भाँति लौकिक प्रत्यक्ष प्रमाण से रस-प्रतीति का बोध हो तो वह भी उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षरूप में) नायक युगल (नायक-नायिका की रति आदि

---

१. भ० भ० दौ न साधा। २. म० भ० स्मृतिरुपलब्ध। ३. म० म० दयमव्यग्र।

(चानेक) रसत्वमथापि स्यात् । तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता ।[१] उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम् । शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चाद्-भिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः । स्वगतत्वपरगतत्वादि च पूर्ववद्वि-कल्प्यम् ।

क्रीड़ाओं) के अवलोकन में आनन्द के बजाय अपने-अपने चित्तवृत्ति के अनुरूप अन्य चित्तवृत्तियों–लज्जा, जुगुप्सा, स्पृहा आदि का आविर्भाव होगा । (और इस प्रकार साक्षात्कारात्मक प्रतीति में लज्जादि के आविर्भाव के कारण चित्तवृत्ति के) व्यग्र होने से (रस-प्रतीति की अपेक्षा) आकाश-रस (आकाश-कुसुम की भाँति रस-प्रतीति का अभाव) भी हो सकता है । इसलिए रस-प्रतीति को अनुभव, स्मृति आदि (शब्द-अनुमान-प्रत्यक्ष) रूप नहीं माना जा सकता । तात्पर्य यह कि रस की प्रतीति नहीं होती जैसा कि शंकुक मानते हैं । (भट्टनायक के रस की) उत्पत्ति के विषय में भी यह (प्रतीति के विषय में कहा गया) दोष समान है । अब अभिव्यक्तिपक्ष का खण्डन करेंगे 'शक्ति' आदि के द्वारा । शक्ति (सत्ता) के रूप में पह से अवस्थित (रस की) बाद में (विभावादि के योग से) अभिव्यक्ति होने पर (विभावादि रूप) विषय की (न्यूनाधिक्य रूप में) उपस्थिति में (रस में भी) तर-तमभाव (न्यूना-धिक्यभाव) की आपत्ति होगी । और प्रतीतिविषयक सिद्धान्त की भाँति यहाँ भी यह निश्चित करना होगा कि (यह रसाभिव्यक्ति) स्वगत होती है या परगत । अभिव्यक्ति पहले से उपलब्ध वस्तु की ही होती है जैसे प्रदीपादि से घटादि की । इसी प्रकार यदि रस को अभिव्यक्ति माना जाय तो उसे पूर्व से ही उपलब्ध होना चाहिए । रस पहले से ही उपलब्ध रहता है और विभावादि के योग से प्रदीपादि से घटादि की भाँति वह अभिव्यक्त होता है, यह मानने पर आपत्ति यह खड़ी होती है कि प्रदीप के कम या अधिक प्रकाश में घटादि की प्रतीति या अभिव्यक्ति भी कम या अधिक रूप में ही होती है । उसी प्रकार रसाभिव्यक्ति के विषय विभावादि के कम या अधिक रूप में होने पर रसाभिव्यक्ति में भी कम या अधिक रूपता मानना पड़ेगा । जो अयुक्त है क्योंकि रसानुभूति अखण्ड रूप होती है । दूसरी आपत्ति यह है कि यह अभिव्यक्ति स्वगत होती है या परगत । परगत (नटगत) रसाभिव्यक्ति से तो सामाजिक को कोई लेना-देना नहीं, उसे क्या लाभ ? रही स्वगत अभिव्यक्ति तो उसमें भी सामाजिक को करुणादि रस में दुःखादि का अनुभव होगा । अतः यह भी मान्य नहीं । इस प्रकार रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त ही होता है ।

इस प्रकार तीनों मतों का खण्डन कर भट्टनायक अपने भुक्तिवाद की स्थापना करते हैं । इसके लिए उन्होंने जैसा कि पहले कहा जा चुका है, तीन शब्द की शक्तियों का सहारा लिया है—अभिधा, भावना या भावकत्व तथा भोजकत्व । पहले से रामादि की उपस्थिति होती है । दूसरे से रामादि का परिहार होकर साधारणीकरण होता है

---

१. म० भ० क्तात् उ ।

तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसङ्कटकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।

और अन्तिम से सामाजिक को रसानुभूति होती, रस का आस्वादन होता है। इसी को आगे 'तस्मात्' आदि से उपस्थित करेंगे।

इसलिए काव्य में दोषाभाव तथा गुणालङ्काररूप लक्षण से तथा नाटक में चार प्रकार के (आङ्गिक, वाचिक, सात्विक तथा आहार्य) अभिनयस्वरूप, (सामाजिक के) अपने घोर अज्ञान (मोह) की समाप्ति (सङ्कट) करने वाले, विभावादि के साधारणीकरणस्वरूप (विभावादि का साधारणीकरण करने वाले), अभिधा के अतिरिक्त (शब्दशक्ति के) द्वितीय अंश (व्यापार) भावकत्व-व्यापार से साधारणीकृत (भाव्यमान) रस, अनुभव-स्मृति आदि से विलक्षण, रजोगुण तथा तमोगुण के अभिभवानन्तर जायमान वैचित्र्यबल से द्रुति, विस्तार तथा विकासरूप, सत्वगुण के उद्रेक (बाहुल्य) से प्रकाश तथा आनन्दमय अपने (विषयान्तर) ज्ञान के विश्रान्तिरूप, परब्रह्म के आस्वादतुल्य भोग (नामक व्यापार) से अतिशयरूप में भोगा जाता (भोग का विषय अनुभव किया जाता) है।

भाव यह है कि, दोषरहित गुणालंकारयुक्त शब्दार्थ को काव्य कहा गया है। काव्य में शब्दार्थ के माध्यम से रामादि वस्तु सामाजिक के समक्ष उपस्थित होते हैं। नाटक अभिनय-प्रधान है। अतः उसमें चार प्रकार के अभिनय से सामग्री प्रस्तुत की जाती है। उभयत्र अभिधाशक्ति से ही ये वृत्त उपस्थित होते हैं। अभिधा द्वारा प्रस्तुत ये वृत्त रामादि रूप होते हैं, उनसे सामाजिक को कोई आनन्द नहीं मिलता; किन्तु शब्द की दूसरी शक्ति भावकत्व वृत्ति सामाजिक के स्व-पर विषयक अज्ञान को दूर कर देती है। और इस प्रकार सामाजिक या पाठक जो सीता-राम आदि को अपने से भिन्न मानता था, उन विभावों को साधारणीकृत (अपने से अभिन्न) मान लेता है। रामादि विभाव से साधारणीकरण हो जाने पर सामाजिक राम-सीता का आरोप अपने पर कर बैठता है और इस प्रकार वह तदनुरूप होकर रत्यादि का भोग नामक व्यापार से भोग या आस्वाद (अनुभव) करता है। यह भोग-व्यापार स्मृति आदि से विलक्षण है। रजस् तथा तमोगुण को अभिभूत कर लेता है। सत्व की प्रधानता का आविर्भाव करता है। द्रुति, विस्तार तथा विकासरूप में इसकी प्रतीति होती है। वेद्य विषयान्तर की विश्रान्ति हो जाती है तथा आनन्द और प्रकाशस्वरूप यह भोग परब्रह्म (आनन्द) के आस्वाद के समान होता है। इस प्रकार के भोग-व्यापार से भुज्यमान रत्यादि रूप रस का चरम आस्वाद या भोग किया जाता है। पण्डितराज ने अपने ग्रन्थ में इसे पूर्णतः स्पष्ट किया है।

तत्र पूर्वपक्षोऽयं भट्टलोल्लटपक्षानभ्युपगमादेव नाभ्युपगत इति तद्दूषणानुत्थानोपहतमेव। प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः। रसनेति चेत्। सापि प्रतिपत्तिरेव। केवलमुपायवैलक्षण्यान्नामान्तरं प्रतिपद्यतां दर्शनानुमिति श्रुत्युपमिति—प्रतिभानादिनामान्तरवत्। निष्पादनाभिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे च नित्यो वा असद्वा रस इति न तृतीया गतिरस्याम्। न चाप्रतीतं वस्त्वस्ति व्यवहारे योग्यम्।

अथोच्यते—प्रतीतिरिति तस्य भोगीकरणम्। तच्च भू[1] (र) त्यादिस्वरूपम्। तदस्तु। तथापि न तावन्मात्रम्। यावन्तो हि रसास्तावन्त एव रसनात्मनः प्रतीतयो भोगीकरणस्वभावाः। (सत्वादि[2]) गुणानां चाङ्गाङ्गिवैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति कर्तृ (कामि[3]) त्वेनेयत्ता—

अब आगे भट्टनायक के मत का खण्डन प्रस्तुत करेंगे। वहाँ (भट्टनायक के मत में) यह पूर्वपक्ष (मत) भट्टलोल्लट के पक्ष के अस्वीकार (अनभ्युपगम) से ही अस्वीकृत हो गया। इस प्रकार दोष को बिना उठाये ही (वह मत) उपहत हो गया (मत दुष्ट हो गया पुनः कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं)। और प्रतीति आदि से व्यतिरिक्त संसार में भोग क्या है, यह समझ नहीं पा रहे हैं। यदि आस्वाद (रसना) है ऐसा मानें तो वह (रसना या चर्वणा) भी प्रतीति ही है। केवल उपाय की विलक्षणता से उसका दूसरा नाम (भोग को) भले ही मान लें। जैसे (भिन्न-भिन्न प्रमाणों से होने वाले ज्ञान को) प्रत्यक्ष (दर्शन), अनुमिति, श्रुति, उपमिति तथा प्रतिभान आदि (अनेक नामों से जाना जाता है)। (ऊपर की पंक्तियों का भाव यह है कि जिन तर्कों से भट्टलोल्लट का मत दुष्ट माना गया, उन्हीं के आधार पर भट्टनायक का उपर्युक्त मत भी दुष्ट है। उसका पुनः कथन आवश्यक नहीं। दूसरी बात कि भट्टनायक जो 'भोग नामक व्यापार मानते हैं वह प्रतीति से या रसना से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। वैसे ही जैसे विभिन्न साधनों से प्रतीति एक ही ज्ञान को प्रत्यक्षादि विभिन्न नामों से व्यपदिष्ट किया जाता है, यह भोग भी प्रतीति का दूसरा नाममात्र है। कोई वैशिष्ट्य नहीं है)।

उक्त मत में ग्रन्थकार अन्य दोष का दर्शन कराते हैं, 'रस उत्पन्न होता है, अभिव्यक्त होता है, इन दोनों मतों को अस्वीकार कर देने पर रस नित्य है अथवा असत् (दो बातों को मानने के अतिरिक्त कोई) तीसरी गति नहीं हो सकती (अतएव रस न उत्पन्न होता है, न अभिव्यक्त होता है यह कहना सम्भव नहीं है और यह भी नहीं कह सकते कि, रस की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि) कोई भी अप्रतीत वस्तु व्यवहार में उपयुक्त नहीं होती। (और यदि आप भट्टनायक यह कहें कि प्रतीति तो हम भी मानते हैं। किन्तु रस की प्रतीति कोई उस प्रकार की बाह्य प्रतीति नहीं है जैसे प्रदीप से घटादि की, प्रत्युत् वह भोगरूप आन्तर है और वह भोग भी रत्यादि रूप है। इसी

---

१. हेमचन्द्र, काव्यानु, द्रुत्या। २. हेमचन्द्र, काव्या-सत्वादि। ३. हेमचन्द्र, काव्यानु।

("अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।[1]
अभिधा धामतां याते शब्दार्थालङ्कृती सतः॥)
भावना भाव्य एषोऽपि श्रृङ्गारादिगणो भ(हि) यत्।
(तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः॥") इति।

यत् "काव्येन भाव्येन रसाः" इत्युच्यते तत्र विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावनं तदभ्युपगम्यत एव। यत्तूक्तम्—

को अभिनव रखकर खण्डन करेंगे) और यदि कहते हैं कि, रस की प्रतीति भोगीकरण ही है और वह रत्यादि रूप है। (उत्तरपक्ष) वही हो, तो भी उतने मात्र से ही तो बचाव नहीं है; क्योंकि जितने ही (श्रृङ्गरादि) रस हैं उतने ही प्रकार की भोगीकरणरूप रसनात्मक प्रतीतियाँ हैं। उनमें भी सत्व आदि (रज, तम) गुणों के अङ्गाङ्गिभाव के वैचित्र्य से अनन्त भेदों की कल्पना करनी होगी, फिर तीन (अभिधा, भावना तथा भोजकत्वरूप व्यापार) की ही इतिमात्रता कैसी? (तात्पर्य यह है कि रसों के आधार पर प्रतीतियाँ, जिन्हें आप भोगरूप मानते हैं, अनेक हो सकती हैं। और यही नहीं, रसों की विभिन्न प्रतीतियों में कहीं सत्व की प्रधानता रहती है तो रज तथा तमोगुण की अप्रधानता। इसी प्रकार गुणों का प्राधान्याप्राधान्यभाव होता रहता है। इस प्रकार से भोगीकरणरूप अनन्त प्रतीतियाँ हो जायेंगी। अतः रसनात्मक वृत्ति तीन ही हैं यह आप कैसे कह सकते हैं?)

(भट्टनायक ने अपने 'हृदय-दर्पण' ग्रन्थ में इसका विवेचन किया था। वह सम्प्रति अनुपलब्ध है। उसकी कुछ कारिकायें यत्र-तत्र मिल जाती हैं। यहाँ भी दो कारिका आगे प्रस्तुत की गयी हैं। अब तक व्याख्यात भट्टनायक के मत का सार इन कारिकाओं में दिया गया है)।

'अभिधा, भावना तथा उसका भोगीकरण (ये शब्द के तीन व्यापार हैं)। शब्दार्थ अलङ्काररूप वस्तुवृत्तान्त पहले अभिधा द्वारा (सामाजिक के सम्मुख) उपस्थित होता है। (दूसरे व्यापार) भावना से यह (राम-सीता आदि वृत्त) भाव्यमान (साधारणीकृत) श्रृङ्गारादि रस-समूह (कहा जाता है) जो भोगीकृतस्वरूप उस (तृतीय भोग या भोजकत्व-व्यापार) से सिद्धिमान् (सहृदय) लोगों द्वारा विशेषरूप से साक्षात् (अनुभूत) किया जाता है।'

भट्टनायक के मत को 'लोचन' में अधिक स्पष्ट किया गया है—'ननूक्तं भट्टनायकेन—'रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वगतत्वेन रामादिचरितमयात्काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता, सीतायाः सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत् देवतावर्णनादौ तदपि

---

१. हेमचन्द्र काव्यानु।

"संवेदनाख्य (ख्यया) व्यङ्ग्य परसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते॥" इति।

तत्र व्यज्यमानतया व्यङ्ग्यो लक्ष्यते। अनुभवेन च तद्विषय इति-मन्तव्यम्।

नन्वेवं कथं रसतत्त्वमास्ताम्।

कथम्। न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते। अलोकसामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावादयस्ते कथं साधारण्यं भजेयुः। न चोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते, अननुभूतत्वात्। शब्दादपि तत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः। प्रत्यक्षादिव नायिका-मिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद् दुःखित्वे करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। तन्न उत्पत्तिरपि, नाभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि शृङ्गारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जन-तारतम्यप्रवृत्तिः स्यात्। तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः। तेन न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः। किं त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्त्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंऽशभूता व्यापाराः। तत्राभिधा-भागो यदि शुद्धः स्यात् तत्तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलङ्काराणां को भेदः? वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिञ्चित्करम्। श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम्? तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः, यद्वशादभिधा विलक्षणैव। तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्का-व्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभव-स्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमो वैचित्र्यानुविद्धसत्त्व-मयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वाद सविधः। स एव च प्रधान-भूतोंऽशः सिद्धरूप इति। व्युत्पत्तिर्नामाप्रधानमेवे'ति।'

और खण्डन की प्रक्रिया इस प्रकार है— "...भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत्किञ्चित्। भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मक-मस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम्? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्प्य-माणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्। तस्माद्व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इति त्र्यंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते। ...तच्चेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्।... तस्मात् स्थितमेतत्—अभिव्यज्यन्ते रसाः, प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति'। (लोचन, पृ० १९०—२००)।

और पण्डित जगन्नाथ ने इस प्रकार कहा है—

'भट्टनायकास्तु' ताटस्थ्येन रसप्रतीतावनास्वाद्यत्वम्। आत्मगतत्वेन तु प्रत्ययो दुर्घटः। शकुन्तलादीनां सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वात्। विना विभावमनालम्बनस्य

किं कुर्मः ।

आम्नायसिद्धे किमपूर्वमेतत्संविद्विकासेऽधिगतागमित्वम् ।
इत्थं स्वयंग्राह्यमहार्हहेतुद्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः ॥
ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती ।
[1]फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां विवेकसोपानपरम्पराणाम् ॥

रसादेरप्रतिपत्तेः । न च कान्तात्वं साधारणविभावतावच्छेदकमप्यस्तीति वाच्यम् । अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गिताऽगम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोटावश्यं निवेश्यत्वात् । अन्यथा स्वस्रादेरपि कान्तात्वादिना तत्त्वापत्तेः ।...किं च केयं प्रतीतिः । प्रमाणान्तरानुपस्थानाच्छाब्दीति चेत्, न । व्यावहारिकशब्दान्तरजन्यनायकमिथुनवृत्तान्तवित्तीनामिवास्या अप्यहृद्यत्वापत्तेः । नापि मानसी । चिन्तोपनीतानां तेषामेव पदार्थानां मानस्याः प्रतीतेरस्याः वैलक्षण्योपलम्भात् । न च स्मृतिः । तथा प्रागननुभवात् ।

तस्माद्भिधया निवेदिताः पदार्था भावकत्वव्यापारेणागम्यात्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते । एवं साधारणीकृतेषु दुष्यन्तशकुन्तलादेशकालवयोवस्थादिषु पश्चात् पूर्वव्यापारमहिमनि तृतीयस्य भोगकृत्त्वव्यापारस्य महिम्ना निगीर्णयो रजस्तमसोरुद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणेन साक्षात्कारेण विषयीकृतो भावनोपनीतः साधारणात्मा रत्यादिः स्थायी रसः । तत्र भुज्यमानो रत्यादिः, रत्यादिभोगो वेत्युभयमेव रसः । सोऽयं भोगो विषयसंवलनाद् ब्रह्मास्वादसविधवर्तीत्युच्यते । एवं च योंऽशाः काव्यस्य । 'अभिधा भावना चैव तद्भोगी कृतिरेव च–" इत्याहुः । मतस्यैतस्य पूर्वस्मान्मताद् भावकत्वव्यापारान्तस्वीकार एव विशेषः । भोगस्तु व्यक्तिः । भोगकृत्त्वं तु व्यञ्जनादविशिष्टम् । (रस-गंगाधर, पृ० २४–२६ । नि० सा०) ।

भट्टनायक की इन उक्तियों का अब विरोध प्रस्तुत किया जायगा । आप (भट्टनायक) जो यह कहते हैं कि 'काव्य से रसों की भावना होती है तो वहाँ यदि भावना शब्द का अर्थ विभाव आदि (अनुभाव, संचारीभावों) से उत्पन्न चर्वणा-स्वरूप आस्वादात्मक ज्ञान की प्रत्यक्ष प्राप्ति ही है तो वह तो हमें स्वीकृत ही है (आप कोई नयी बात नहीं कह रहें) ।

क्योंकि कहा है—

दूसरे (सामाजिक आदि) की प्रतीति से साक्षात्कृत, संवेदन नाम से व्यंग्य आस्वादनरूप अनुभव का विषय रस ही काव्य का अर्थ (प्रयोजन) कहा जाता है ।

यहाँ (संवेदन पद) व्यज्यमानरूप से व्यंग्य (रस को) लक्षित करता है और अनुभव पद से यह मानना चाहिए कि रस अनुभव का विषय है ।

---

१. म० अलम् ।

चित्रं निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम्।
सन्मार्गलाभे सति सेतुबन्ध पुरप्रतिष्ठादि न विस्मयाय ॥
तस्मात्सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥

तद्युच्यतां परिशुद्धतत्त्वम्।

उक्तमेव मुनिना न त्वपूर्वं किञ्चित्। तथा ह्याह—"काव्यार्थान् भावयन्ति" इति (ना० शा०, अ०-७) तत्काव्यार्थो रसः।

(पूर्वपक्षी) तो इस प्रकार रसतत्त्व कैसे (सिद्ध) हो ? (क्योंकि आपने तो तीनों ही व्याख्याओं का खण्डन कर दिया। अब तक की प्रस्तुत तीनों व्याख्याओं का खण्डन कर देने के कारण पूर्वपक्ष से यह शङ्का उक्त पक्तियों में प्रस्तुत की गयी कि जब आपने सभी पक्षों को निरस्त ही कर दिया तो रस कैसे और कहाँ (निष्पन्न) हो ? इसका उत्तर आगे की पंक्तियों में स्वयं ही अभिनव ने प्रस्तुत किया है कि उक्त प्रक्रिया से रस-सिद्धि तो होती नही है। किन्तु केवल इसीलिए तो हम प्रामाणिक जन अयुक्त तथा अप्रामाणिक बात स्वीकार नहीं कर लेंगे। अतः हम—)

क्या करें ? (वस्तुतः जो वस्तु वेद से सिद्ध है उसके खण्डन करने से उसकी यथार्थता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, मात्र उसमें और भी परिमार्जन आ जाता है। किसी भी बात का विरोध करना तो लोक का स्वभाव है। पर किसी भी विषय में उत्तरोत्तर विचार करने पर मूल तक पहुँचने में आसानी होती है। रस वेदप्रतिपादित है। उसका खण्डन मेरे से सम्भव नहा है। प्राचीनों का मत-दूषण केवल मूल की प्रतिष्ठापना-मात्र है। इन्हीं बातों को ग्रन्थकार नीचे की कारिकाओं से व्यक्त करेंगे)।

वेद से सिद्ध होने पर भी यह कोई अपूर्व बात नहीं है (अर्थात् रस यद्यपि वेद-प्रतिपादित है उसकी सत्ता को कोई आँच नहीं आ सकती; किन्तु वेद-सिद्ध वस्तुओं का खण्डन कोई नवीन बात नहीं है, प्रत्युत् ऐसे मतों के विरोध से क्रमशः) बुद्धि का विकास होता है, और (बुद्धि का विकास हो जाने पर) प्राप्य (प्रामाणिक) वस्तु की प्राप्ति हो जाती है (सिद्धि हो जाती है)। इस प्रकार स्वयंग्राह्य (स्वतः सिद्ध) तथा अमूल्य शब्द (आदि) हेतुओं से सिद्ध तथ्य के साथ विरोध से क्या लोक (अथवा लोक-प्रमाण) स्वयं दूषित नहीं हो जाता ? (अर्थात् वेद-सिद्ध रस का विरोध करने वाला सिद्धान्त या व्यक्ति स्वतः दूषित हो जाता है)। (पूर्वपक्ष कह सकता है कि फिर आपने उक्त मतों का विरोध क्यों किया ? उत्तर यह है—)

थकान को न समझती हुई बुद्धि निरन्तर ऊपर-ऊपर चढ़ती हुई (ऊपर अन्त तक पहुँच कर) जिस अर्थतत्त्व को देखती है, प्राचीनों द्वारा परिकल्पित (व्याख्यात) विवेक की क्रमिक परम्पराएँ (विवेक की सोपान-परम्पराएँ) उसमें अत्यन्त समर्थ (बड़ी महत्त्वपूर्ण) होती हैं। पदार्थ (कार्य-वस्तु) की सिद्धि में प्रथम तत्त्व का अवतार निरालम्बन (आधारविहीन होने पर) भी आश्चर्यपूर्ण है; किन्तु उसी से

यथाहि 'रात्रिमासत'।* 'तामग्नौ प्रादात्' इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिणः प्रतिपत्तिमात्रा[1]दतितीव्रप्ररोचितात्प्रथम प्रवृत्तादनन्तरमधिकैवोपात्तकालतिरस्कारेणैवास्ते(से) प्रददानीत्यादिरूपां संक्रमणादिस्वभावा यथादर्शनं प्रतिभाभावना[2] विध्युद्योगादिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकाऽस्ति प्रतिपत्तिः।

आधार (मार्ग) मिल जाने पर (उस पर) पुलों का निर्माण (सन्धि आदि की प्रतिष्ठा) तथा नगर आदि की प्रतिष्ठा (आगे का निर्माण) आश्चर्यकारी नहीं होता। इसलिए यहाँ (मैंने) (पूर्व) सत्पुरुषों के मतों को दूषित नहीं किया है प्रत्युत् उन्हीं को (और भी) परिमार्जित किया है; क्योंकि प्राचीनों के द्वारा प्रतिष्ठापित वस्तुओं की संगति में ही मूल की प्रतिष्ठा का फल माना गया है। (अब आगे प्रश्नोत्तर से अपने अभीष्ट मत को ग्रन्थकार रखने का प्रयास करेंगे) तो (यदि आपने पूर्व मतों को परिशुद्ध किया है तो) फिर उस परिशुद्ध तत्त्व (रस) को आप प्रतिपादित करें। (उत्तर) भरतमुनि ने तो कह ही दिया है (कहने को) कोई अपूर्व बात नहीं है। जैसा कि (मुनि ने सप्तम अध्याय में) कहा है 'काव्यार्थों को भावित (प्रकाशित) करते हैं (जो) वे ही काव्य के अर्थ रस हैं। (काव्योपात्त शब्द रसानुभूति में अधिक उपयोगी है, को प्रतिपादित करते हैं—)

जैसे कि (ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रयुक्त 'वनस्पतयः सत्रमासत', 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदाखिदत् तामग्नौ प्रादात्' इत्यादि वाक्यों में) (वनस्पति आदि) 'यज्ञ में बैठे' [प्रजापति ने अपनी चर्बी (वपा) को उखाड़ा और] 'उसे अग्नि में डाल दिया' इत्यादि (अर्थवाद वाक्यों) में अथित्व आदि (की शक्ति) से लक्षित अधिकारी की प्रथम प्रवृत्त (होने वाली) अत्यन्त प्रशंसित प्रतिपत्ति सामान्य (से होने वाली अर्थ-प्रतीति) के बाद (उन अर्थवाद-वाक्यों में) ग्रहण किये गये काल (भूत) की उपेक्षा कर देने से ही (अधिकारी में मैं भी) 'बैठूँ' 'प्रदान करूँ' इत्यादि रूप (तथा अधिकारी में) संक्रमणशील प्रतिभा, भावना, विधि, नियोग आदि से व्यवहृत यथादृष्ट (अर्थ की अपेक्षा) अधिक ही प्रतीति होती है उसी प्रकार काव्यात्मक शब्द से अधिकारी को अधिक प्रतीति होती है (अपेक्षाकृत सामान्य शब्दों के)।

उपर्युक्त पंक्तियों में ग्रन्थकार ने मीमांसा का सहारा लिया है। कतिपय शब्द व्याख्येय हैं। प्रशस्ति अथवा निन्दापरक वाक्य को अर्थवाद कहते हैं—'प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः।' जैसे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' आदि वाक्य में सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करना चाहिए इत्यादि अर्थ की प्रतीति से सम्पूर्ण वेदाध्ययन की प्रशस्ति सूचित होती है। उत्पन्न होने वाले कार्य के अनुकूल प्रयोजक के व्यापार-विशेष को भावना कहा गया है। अर्थवाद से भावना का अभ्युदय होता है। अपौरुषेय वाक्य को वेद कहा गया है। वह पञ्च प्रकार का है—विधि, निषेध, मन्त्र,

---

* वपां (तै-ब्रा.)। १. म० भ० त्रादितीव। दित्रिवृत्प्र। २. ना विधिनियोगा।

अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। तस्य च "ग्रीवाभङ्गाभिरामम्।" इति (शाकु०, अ० १) "उमापि नीलालक" इति (कुमा० ३-६२) "हरस्तु किञ्चित्" (कुमार० ३-६७) इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा

नामधेय तथा अर्थवाद। अज्ञात अर्थ के ज्ञापक वेदभाग को विधि कहते हैं— 'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः'। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' में ज्ञात होता है 'स्वर्गकामी को अग्निहोत्र करना चाहिए' यह अन्य प्रमाणों से ज्ञात नहीं है। नियोग-विधि विधि का एक भेद है। अङ्ग का प्रधान से सम्बन्ध व्यक्त करने वाली विधि को विनियोग-विधि कहते हैं। जैसे 'दध्ना जुहोति' में अङ्ग दधि का प्रधान 'अग्निहोत्रं जुहोति' से सम्बन्ध बोधित होता है। भावना, विधि, नियोग आदि सभी अर्थ को बोधित करने वाली मीमांसा-शास्त्र की विभिन्न विधियाँ हैं जिनसे सामान्य की अपेक्षा असामान्य अर्थों की प्रतीति होती है। 'प्रतिभा' शब्द का काव्यशास्त्रियों ने पृथक्-पृथक् स्वरूप व्यक्त किया है। लोचन में अभिनवगुप्त ने कहा है, अपूर्व वस्तु को निर्माण करने में समर्थ प्रज्ञा ही प्रतिभा है—'प्रतिभा नाम अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा'। अभीष्ट को करने वाले को मीमांसा-शास्त्र में अधिकारी कहा गया है। ग्रन्थकार आगे अधिकारी का लक्षण करते हैं—)

और यहाँ अधिकारी निर्मल प्रतिभानयुक्त हृदय वाला (सहृदय कहा गया है)। (प्रतिभान का अर्थ लोचन में ग्रन्थकार ने किया है—'शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम्। पुनश्च वर्णनीयवस्तुनिष्ठः प्रज्ञाविशेषः प्रतिभानम्'। अर्थात् वर्णनीय वस्तुनिष्ठ प्रज्ञाविशेष ही प्रतिभान है)। और उसको (महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल में आये) 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' तथा (कुमारसम्भव ३।६२) में 'उमापि नीलालक' इत्यादि में (तथा वहीं ३।६७) 'हरस्तु किंचित्' इत्यादि वाक्यों से वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति के बाद सम्पूर्ण वाक्य में उपात्त उन-उन कालादि विभागों का तिरस्कार करके मानसी साक्षात्कारात्मक प्रतीति उत्पन्न होती है (अर्थात् इन वाक्यों के पढ़ने के बाद यह ज्ञात नहीं हो पाता है कि ये भूतकाल के वृत्त हैं। साधारणीकरण द्वारा ये घटनाएँ प्रत्यक्ष-सी प्रतीत होती हैं। और यह प्रतीति वाक्यार्थ से विलक्षण कुछ और ही प्रकार की होती है। उपर्युक्त श्लोक इस प्रकार हैं—)

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्।
शष्पैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥ शाकु० १-७।

यहाँ बाण के भय से भागते हुए मृग का स्वाभाविक चित्रण किया गया है। मृग की भयग्रस्त रूपरेखा आँखों के सामने नाच उठती है।

तावत्प्रतीतिरुपजायते। तस्यां च यो मृगपोतका[1]दिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति 'भासकस्या[2]पारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितम्'। तत एव, 'भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा' इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतहानादि[3] बुध्यन्तरोदयनियमवत् तथा विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीति ग्राह्य साक्षादिव हृदये निविशमानं[4] चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः तथाविधे हि भये नात्माऽत्यन्ततिरस्कृतो न विशेषत उल्लिखितः।

एवं परोऽपि। तत एव न परिमितमेव साधारण्यम्। अपितु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योः। भयकम्पयोरेव वा तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वेन परिपोषिका नटादिसामग्री। यस्यां वस्तु सतां[5] काव्यार्थितानां च देशकाल-

---

उमापि लोलालकमध्यशोभि विस्रसयन्ती नवकर्णिकारम्।

चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय॥ कुमार० ३-६२।

भगवान् शङ्कर को प्रणाम करती हुई शृङ्गारमूर्ति पार्वती की वास्तविक चित्र रेखा प्रस्तुत हो जाती है।

हरस्तु किंचित् परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।

उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥ कुमा० ३-६७।

(मन्मथाविष्ट भगवती पार्वती तथा भगवान् शङ्कर की स्वाभाविक अवस्था का चित्राङ्कन किया गया है)।

और उसमें ('ग्रीवाभङ्गाभिरामं' इत्यादि श्लोक में) जो मृगशिशु आदि प्रतीत होता है, उसका विशेष रूप (साधारणीकरण द्वारा प्रतीत) न होने के कारण (यह मृगपोत) भीत है (यह भासित होता है)। त्रासक के (दुष्यन्त आदि के) अवास्तविक होने के कारण देश-काल आदि से पूर्णतः असम्बद्ध भय ही (प्रतीत होता है)। उसी से 'मैं भीत हूँ', 'यह भीत है' अथवा यह शत्रु, मित्र या तटस्थ (मध्यस्थ) है इत्यादि सुख-दुःख आदि से सम्पादित अन्य बुद्धि के प्रादुर्भाव से नियमभाव के कारण विघ्नबहुल प्रतीतियों से विलक्षण निर्विघ्न प्रतीति से ग्रहण-योग्य (भय स्थायीभाव), साक्षात्-सा हृदय में प्रविष्ट होता हुआ, आँखों के सामने घूमता हुआ सा भयानक रस होता है। उस प्रकार के भय में आत्मा (निजत्व) न तो अत्यन्त तिरस्कृत होता है और न विशेषरूप से उल्लिखित (गृहीत) होता है। इसी प्रकार अन्य (रस में) भी होता है।

इसलिए (विभावादि) का साधारणीकरण निश्चित सीमा (परिमित) तक ही नहीं होता अपितु विस्तृत रूप में होता है। जैसे धूम और अग्नि अथवा भय तथा कम्प आदि का व्याप्ति-ग्रहण (परिमित मात्रा में न होकर विस्तृत रूप में होता है, उसी प्रकार विभावादि सामग्री का साधारणीकरण भी विस्तृत रूप में होता है)। तो

---

१. कादिमीतिः। २. भ० ग्राहक। ३. भाना। ४. म० निधीय। ५. भ० स्तुतः स।

प्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसारणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति। अत एव सर्वसामाजिकानामेकधन'तयैव प्रतिपत्तेः (त्तिः) सुतरां रसपरिपोषाय। सर्वेषामनादि वासना चित्रीकृत-चेतसां वासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संवित्। चमत्कारस्तज्जोऽपि कम्प-पुलकोल्लुकसनादिर्विकारः। चमत्कारो यथा—

"अज्जे वि हरी चमक्कइ कहविण मंदरेण दळि आइं।
चंदकलादलसच्छी आइं लच्छीए अंगाइं॥"

तथाहि—स च चातृप्तिव्यतिरेकेणाविच्छिन्नो भोगावेश इत्युच्यते। भुञ्जानस्याद्भुतभोगास्पन्दाविष्टस्य च मनश्चमत्करणं चमत्कार इति। स च साक्षात्कारस्वभावो मानसोऽध्यवसायो वा संकल्पो वा स्मृतिर्वा तथात्वेन स्फुरत्य(न्न)स्तु।

यहाँ साक्षात् या प्रत्यक्षरूप से होने वाली प्रतीति में नटादि सामग्री परिपोषक है। जिस (परिपोष) में काव्य-समर्पित विद्यमान वस्तुओं तथा देश, काल, प्रमाता आदि के नियामक हेतुओं के परस्पर के प्रतिबन्ध (नियमन) को बलपूर्वक अत्यन्त दूर हटा दिये जाने पर वही साधारणीकरण अत्यन्त परिपुष्ट होता है। इसीलिए सभी सामाजिकों को एक ही अभिन्नरूप से प्रतीति होती है जो अत्यन्तरूप में रस के परिपोष के लिए होती है। क्योंकि अनादि वासना से चित्रित मन वाले सभी सामाजिकों की वासना का संवाद (ऐक्यभाव) पाया जाता है। और विघ्नरहित वह 'संविद्' (प्रतीति) ही चमत्कार कही जाती है। और उससे उत्पन्न कम्प, पुलक, उल्कुकसन आदि विकार भी चमत्कार (ही कहे जाते) हैं। जैसे—

छाया—(अद्यापि हरेः चमत्कृतिकराणि न मन्दरेण कलितानि। चन्द्रकलादल-सच्छायानि लक्ष्म्या अङ्गानि॥)

आज भी मन्दराचल ने भगवान् विष्णु के लिए भी आश्चर्य उत्पन्न कर देने वाले लक्ष्मी के चन्द्रकला की कन्दली के समान शुभ्र सौन्दर्योपेत अङ्गों को नहीं समझा है।

और वह (चमत्कृति जो यहाँ रसानुभव से उत्पन्न कम्प-पुलक आदि को व्यक्त करती है) अतृप्ति से व्यतिरिक्त (पूर्ण तृप्ति से) अवच्छिन्न (सम्पूर्णानन्द को प्राप्त) भोगावेश ऐसा कहा जाता है। (रस का) भोग करने वाले तथा भोग-स्फुरण से आविष्ट (अभिभूत व्यक्ति) के मन का चमत्कृत हो जाना चमत्कार है। और स्फुरित होता हुआ वह (रस-चमत्कार) प्रत्यक्षस्वरूप मानसिक अध्यवसाय, संकल्प अथवा स्मृति-रूप उस प्रकार से प्रतिभासित होता है। (रसानुभव करने वाले के मन का चमत्कृत हो उठना ही चमत्कार कहा जाता है। यह चमत्कार रस के उन कारणों कम्पादि से उत्पन्न होता है। परिपूर्ण तृप्ति तक पहुँचाने वाला यह भोगावेश कहा जाता है। यह चमत्कृति किसी भी रूप की हो—प्रत्यक्षात्मक मानसिक अध्यवसाय, संकल्परूप अथवा

---

१. भ० भ० नतैव।

यदाह—रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावास्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ (शाकु० ५) इत्यादि ।

(अत्र[1] हि स्मरतीति या स्मृतिरूपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा । पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात् । अपितु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति ।) सर्वथा तावदेषास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा यस्यां रतिरेव भाति । तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात्सा रसनीया सती न लौकिकी न मिथ्या नानिर्वाच्या न लौकिकतुल्या न तदारोपादिरूपा । तथैव चोपचयावस्थासु देशाद्यनियन्त्रणादनुकारोऽप्यस्तु । भावानुगामितया करणात्, विषयसामग्र्यपि[2] भवतु विज्ञानवादावलम्बनात् । सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः ।

तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः । तथाहि—लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कार[3] निर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलय-

---

स्मृति, उसी रूप में प्रतीत होती है । आगे शाकुन्तल का उदाहरण देकर इसे और भी स्पष्ट करेंगे—)

जैसा कि कहा है—रम्याणीति (शाकुन्तल में हंसपदिका के गीत को सुनकर यह दुष्यन्त की उक्ति है ।) सुखी भी जीव जो रमणीय वस्तु को देख कर तथा मधुर शब्दों को सुन कर (किसी अभीष्ट के प्रति) उत्कण्ठित हो उठता है तो वह निश्चय ही बिना जाने ही वासनारूप से स्थिर (दृढ़) जन्मान्तर के सौहार्द (अनुराग आदि) का स्मरण करता है ।

यहाँ 'स्मरति' (स्मरण करता है) इस पद से जो स्मृति दिखायी गयी है वह तार्किक प्रसिद्ध स्मृति नहीं है क्योंकि पहले से इस अर्थ (जन्मान्तरीण अनुराग की स्मृतिरूप) का अनुभव नहीं हुआ रहता (न्यायप्रसिद्ध स्मृति में पूर्वानुभूत वस्तु की स्मृति को ही स्मरण कहा जाता है किन्तु पूर्व संस्कारों के स्मरण में यहाँ कोई ऐसी बात नहीं है) । अपितु यह स्मृति प्रतिभान का दूसरा पर्याय तथा साक्षात्कारस्वरूप है । यह प्रतीति तो सर्वथा आस्वादरूप होती है जिसमें रति ही प्रतिभासित होती है । इसीलिए अन्य विशेषों से अविच्छिन्न (उपहित न होने के कारण) वह रसनीय (आस्वाद्य) होने पर भी न लौकिकी, न मिथ्या, न अनिर्वचनीय, न लौकिक के समान और न उसके आरोप आदि रूप ही होती है । (अपितु वह इन सबसे विलक्षण होती है) ।

उसी प्रकार (विभावादि से उपचित रत्यादि स्थायीभावों को रस मानने वाले भट्टलोल्लट के मत में रत्यादि की) उपचय अवस्थाओं में देश, काल, वय आदि का नियन्त्रण न होने के कारण (रत्यादि की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है) तथा भावों की

---

१. हेम० काव्या० । २. भ० भ सामग्र्यामपि । ३. म० विनिवेश ।

विश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते। विघ्नास्त्वास्यां[1] प्रतिपत्तावयोग्यता—संभावनाविरहो नाम स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशो निजसुखादिविवशीभावः प्रतीत्युपायवैकल्यं स्फुटत्वाभावो अप्रधानता संशययोगश्च।

तथाहि—संवेद्यमसंभावयमानः संवेद्ये संवदं विनिवेशयितुमेव (यो) न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्नः। तदपसारणे हृदय[2]-संवादो लोकसामान्यवस्तुविषयः। अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढप्रत्ययप्रसरकारी प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रहः। अत एव निस्सामान्योत्कर्षोपदेशव्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तुविषयत्वादिनियमेन निरूपयिष्यते। न तु प्रहसनादाविव[3]। तच्च स्वावसर एव वक्ष्यामि इत्यास्तां तावत्।

अनुगामिता के कारण (शंकुक के मत में रत्यादि का) अनुकरण करने से अनुकार की भी प्रतीति हो। (दोनों ही मतों में) विज्ञानवाद का अवलम्बन न होने के कारण (विभावादि रूप) विषय-सामग्री भी बाह्य ही (देश-काल से अस्पृष्ट) हो (कोई अन्तर नहीं पड़ता)। सर्वथा रसनात्मक (आस्वाद्य) एवं निर्विघ्न प्रतीतिग्राह्य भाव ही रस है। यहाँ विघ्नों को दूर करने वाले विभाव आदि (अनुभाव, सञ्चारी) होते हैं। जैसे कि लोक में समस्त विघ्नों से विमुक्त प्रतीति ही चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों से कही जाती है।

ग्रन्थकार का उक्त पंक्तियों में अभिप्राय यह है कि चाहे उपचित रत्यादि को रस माना जाय या अनुक्रियमाण रत्यादि को। प्रत्येक अवस्था में देश-काल से अनालिङ्गित रत्यादि स्थायी ही रस कहे जाते हैं। यह रस आस्वाद्य तथा निर्विघ्न प्रतीतिग्राह्य होता है। इसमें विघ्न स्व-पर संदेहादिका का निराकरण विभावादि के साधारणीकरण से हो जाता है। लोक में एक ही प्रतीति अनेक नामों से अभिहित की जाती है। यहाँ भी निर्विघ्न रस-प्रतीति ही अनेक नामों से (पुष्टि, अनुमिति, भुक्ति, व्यक्ति) व्यपदिष्ट की जाती है। अब आगे ग्रन्थकार रस-प्रतीति में होने वाले सात विघ्नों का परिगणन और उनका परिहार बतायेंगे। और इस (रस-प्रतीति) में सात विघ्न (पाये जाते) हैं। (१) प्रतीति में अयोग्यता अर्थात् रस (प्रतीति) की सम्भावना का अभाव, (२) स्वगत (नटगत) अथवा परगत (सामाजिक गत) भाव से देश-कालविशेष का ज्ञान, (३) (सामाजिक का) अपने सुख आदि (दुःख-शोक) के विशेषरूप से वशीभूत हो जाना, (४) प्रतीति के उपायों का विरह-भाव, (५) (रसप्रतीति में) स्फुटत्व का अभाव, (६) अप्रधानता तथा (७) सन्देह का योग।

अब आगे इन विघ्नों का विश्लेषण तथा उनका निवारण बताते हैं—'तथाहीत्यादि' के द्वारा।

---

१. म० भ० विघ्नानाञ्चास्याम्। २. म० भ० सवेदो। ३. म० भ० नादेव।

स्वैकगतानां च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासंभवं तदपगमभीरुतया वा तत्परिरक्षा व्यग्रतया वा तत्सदृशार्जिजीविषया[1] वा तज्जिहासया वा तत्प्रचिख्यापयिषया वा तद्गोपनेच्छया वा प्रकारान्तरेण वा संवेदान्तर-समुद्गम एव परमो विघ्नः।

जैसे कि संवेद्य (रस) को ही असम्भव मानने वाला संवेद्य (रस) में अपने संविद् (ज्ञान या प्रतीति) को ही विधिवत् निवेशित नहीं कर सकता फिर तो वहाँ विश्रान्ति (रसानन्द की अनुभूति) की बात ही क्या ? (इस प्रकार रस को असम्भव मानना या उसकी प्रतीति में ही समर्थ न होना रस-प्रतीति में पहला विघ्न है)।

उस (विघ्न) को दूर करने में लौकिक सामान्य वस्तुओं (विभाव-अनुभाव आदि) के विषय में (सामाजिक के) हृदय की एकतानता (संवाद सहायक होती) है। और लोकोत्तर (समुद्रलंघनादि) चेष्टाओं में तो (असम्भावित्व विघ्न के निरा-करण का) उपाय है अखण्डित प्रसिद्धि से उत्पन्न तथा अतिशय प्रगाढ़रूप में विवृद्ध विश्वास का विस्तार करने वाले प्रसिद्ध राम आदि के नामों का (नटादि में) ग्रहण करना। इसलिए असामान्य उत्कृष्ट उपदेश (रामादिवत्वर्तितव्यं न रावणादिवत्) तथा व्युत्पत्ति प्रयोजन वाले नाटक आदि में प्रख्यात वस्तुरूप विषय (कथानक आदि) का नियमतः निरूपण किया जाता है किन्तु प्रहसन आदि में (नियमतः प्रख्यात वस्तु अदि का निरूपण) नहीं किया जाता। और उसे अपने अवसर पर ही कहेंगे। इसलिए तब तक यह रहे।

(ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि प्रतीति में असामर्थ्य या असम्भावना का परिहार सामाजिक तथा रामादि के विभावादि से दोनों का हृदय-संवाद हो जाने से सम्भव है। हृदय की एकरूपता हो जाने पर रामादि सम्बन्धी विभावादि स्वानुरूप ही लगते हैं। हृदय की एकतानता से रामत्वादि का परिहार हो जाता है और सामाजिक अपने में ही उनका आरोप कर लेता है अतः अप्रतीति का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। लोकोत्तर विभावादि का रामादि में ग्रहण तो उनकी निरन्तर की प्रख्याति से हो जाता है। अनादिकाल से लोक में रामादि महानुभावों के प्रति असामान्यत्व का विश्वास बद्धमूल है जिससे नटादि में उन्हीं की प्रतीति होती है। इसीलिए लोकोत्तर उपदेश तथा व्युत्पत्ति-प्रयोजनरूप नाटक, प्रकरण आदि में प्रख्यात वस्तु का ही उपयोग किया जाता है। प्रहसन आदि में तो कोई भी वस्तु रस की सृष्टि कर सकती है किन्तु नाटक आदि में जहाँ उत्कृष्ट उपदेश ही प्रयोजन है, सामान्य लौकिक वस्तु से यह सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह है कि प्रथम दोष का परिहार सामाजिक की अलौकिक रामादि के विभावादि की हृद्गत एकरूपता से ही हो जाता है।)

द्वितीय विघ्न का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। केवल स्वगत (सामाजिक गत) सुःख-दुःख आदि प्रतीतियों के उपभोग में तो यथासंभव उस (सुख-दुःखादि) के समाप्त

---

१. भ० दृशो जिजीष।

परगतत्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यादि संविदन्तरोद्गमनसंभावनादवश्यंभावी विघ्नः। तदपसारणे 'कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र' (ना० शा० ५-१५८) इत्यादिना (पूर्वरङ्ग[1]विधिं प्रतीति)[2] पूर्वरङ्गानिगूहनेन ("नटी[3] विदूषको वापि" "इतिलक्षित) प्रस्तावनावलोकनेन च यो नटरूपताधिगमस्तत्पुरस्सरः प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः, अलौकिकभाषादिभेदकास्याङ्गरङ्गपीठमण्डपगतकक्ष्यादिपरिग्रहनाट्यधर्मिसहितः। तस्मिन् हि तस्यैवात्रैवैतस्यैव च सुखं वा' इति न भवति। प्रतीतिस्वरूपस्य निह्नवात्।

हो जाने के डर से, अथवा उसकी रक्षा के लिए व्यग्र हो जाने से अथवा उसके समान (सुख-दुःखादि) की प्राप्ति की इच्छा से या उसके परिहार की अभिलाषा से, वा उसे प्रख्यापित करने की इच्छा से अथवा उसे छिपाने की इच्छा से अथवा अन्य किसी प्रकार से अन्य प्रतीति का उत्पन्न हो जाना ही (रस-प्रतीति में) महान् विघ्न है।

परगत सुख-दुःखादि के विषय में कहते हैं—परगत (नटगत) रूप से नियमतः संयुक्त सुख-दुःख आदि का ज्ञान होने पर (सामाजिक को) अपने में नियमतः सुख, दुःख, अज्ञान (मोह) या माध्यस्थ्य (ताटस्थ्य) आदि अन्य प्रतीतियों की उत्पत्ति की संभावना से (रसप्रतीति में) विघ्न अवश्य ही पैदा होगा। इस विघ्न के अपसारण का उपाय बताते हैं—'तदपसारणे' आदि से। और उसके अपसारण में नाट्यशास्त्र ५-१५८ में उक्त 'कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र' इत्यादि से तथा 'पूर्वरङ्गविधिं प्रति' इत्यादि कथन से पूर्वरङ्ग के अनिगूहन (प्रत्यक्ष प्रदर्शन) द्वारा तथा 'नटी विदूषको वापि' इत्यादि से लक्षित प्रस्तावना के अवलोकन से जो नटरूपता का अवबोध होता है उसके साथ (रामादि के अनुरूप) मुकुट (प्रतिशीर्षक) आदि तथा नाट्यधर्मी के साथ-साथ असामान्य भाषा आदि के भेद लास्य के (दश) अङ्ग, रङ्गपीठ, तथा मण्डपगत कक्ष्या आदि का ग्रहण उस (नट) को छिपाने का प्रकार, उपाय है। और वैसा होने पर इसी (नट) का, यहीं, इसीसें सुख अथवा दुःख होता है (प्रतीति) नहीं होती; क्योंकि उसकी प्रतीति का स्वरूप (मुकुटवेषादि से) छिप जाता है और आरोपित दूसरे (रामादि) के रूप की प्रतिभासनात्मक संविद् के विश्रान्ति का अभाव होने से (नटादि) के स्वरूप में विश्रान्ति (प्रतीति की) नहीं होती। वास्तव में उस (नट) के स्वरूप के गोपन मात्र में (प्रतीति) का पर्यवसान होता है (वस्तुतः ये समग्र कार्य साधारणीकरण द्वारा सम्पन्न होते हैं। साधारणीकरण से ही सामाजिक रामादिगत विभावादिकों को स्वाभिन्न मानने लगता है और तदाकारित चित्तवृत्ति हो जाने से वह स्वयं को रामादिरूप मानने लगता है। ऐसी स्थिति में उसे नटादि की न तो पृथक् प्रतीति होती है और न तद्गत सुख-दुःखादि ही तद्रूप प्रतीत

---

१. हेम-काव्यानुपाठः। २. भ० भ० पूज्य। ३. हेम-का भानु-पाठः।

रूपान्तरस्य चारोपितस्य प्रतिभासंविद्विश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रान्त्यभावात्। सत्ये[1] तदीयनिह्नवमात्र एव पर्यवसानात्।

तथाहि—आसीनपाठ्यपुष्प गन्धिकादि लोके न दृष्टम्। न च तन्न किञ्चित्। कथंचित्संभाव्यत्वात् इति स एष सर्वो मुनिना साधारणीभावसिद्ध्या रसचर्वणोपयोगित्वेन परिकर बन्धः समाश्रित इति तत्रैव स्फुटी भविष्यतीति तदिह तावन्नोद्यमनीयम्। ततः स एष स्वपरनियतताविघ्नापसरणप्रकारो व्याख्यातः।

निजसुखादिविवशी भूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दादिविषयमयीभि (भयै) रातोद्यगानविचित्रमण्डपपदविदग्धगणिकादिभिरुपरञ्जनं समाश्रितम्। येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते। उक्तं हि "दृश्यं श्रव्यं च" (ना० शा० १-११) इति।

होते हैं। प्रत्युत प्रेक्षक उन समस्त वातावरणों से अपने को इतना अभिन्न मान लेता है कि उसे आनन्दानुभूति के अतिरिक्त और कुछ भी प्रतिभासित ही नहीं होता। अतः स्वगत या परगत सुख-दुःखादि प्रतीति से रस-प्रतीति में कोई विघ्न नहीं पैदा होता)।

रसचर्वणा के उपयोगी के रूप में इन समस्त कारण-कलापों को भरतमुनि ने साधारणीकरण की सिद्धि द्वारा स्वीकार किया है। यह सब वहीं (उसी प्रकरण में) स्पष्ट होगा। इसलिए तब तक यहाँ उसके लिए प्रयास नहीं किया जा रहा है। इस प्रकार यह स्व-परगत उस विघ्न के अपसारण का प्रकार वर्णित किया गया।

अब आगे तृतीय विघ्न और उसके निराकरण का विवेचन करते हैं—निजेत्यादि द्वारा।

३. अपने सुख-दुःख आदि के वशीभूत व्यक्ति अन्य (रसानुभावरूप) वस्तु में अपने चित्त को कैसे लगा सकता है? (रस-प्रतीति) के इस तीसरे विघ्न के अपसारण के लिए प्रत्येक पदार्थ में निहित साधारणीकरण के प्रभाव से सबके लिए भोग्यरूप होने में समर्थ, शब्द आदि विषयरूप, आतोद्य, गान तथा विचित्र प्रकार के मण्डप पद, और चतुर गणिका आदि से मनोरञ्जन का सहारा लिया जाता है। नाट्यशास्त्र १।११ में मुनि ने कहा है कि, '(महेन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि हम सब लोगों के विनोदार्थ ऐसा साधन चाहते हैं जो) दृश्य (आँखों से देखने योग्य तथा) श्रव्य (सुनने योग्य दोनों) हो (भाव यह है कि नाटक, तज्जन्य रसानुभूति प्रीति-व्युत्पत्तिप्रद होती है और साधारणीकरण से ही यह सब सम्भव है। साधारणीकरण द्वारा प्रेक्षक स्व-पर का ज्ञान भूलकर अपने को तदाकारित बना लेता है। इसलिए नाटक देखते या पढ़ते समय उसे अपने सुख-दुःखादि का बोध ही नहीं होता)।

---

१. भ० भ० सत्यम्।

किञ्च प्रतीत्युपायानामभावे कथं प्रतीतिः। स्फु (अस्फु-) टप्रतीतिकारि शब्दलिङ्गसंभवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति। स्फुटप्रतीतिरूप प्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकाङ्क्षत्वात्।

यथाऽऽहुः 'सर्वा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा', (न्यायसू० भा० १. ३) इति। स्वसाक्षात्कृते आगमानुशतैरप्य[1]'नन्यथाभावस्य स्वसंवेदनात्। अलातचक्रादौ साक्षात्कारान्तरेणैव बलवता तदवधारणादिति लौकिकस्तावदयं क्रमः। तस्मात्तदुभयविघ्नविघातेऽभिनया लोकधर्मिवृत्तिप्रवृत्युपस्कृताः समभिषिच्यन्ते। अभिनयं हि सशब्दलिङ्गव्यापार विसदृशमेवप्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निश्चेष्यामः।

---

४. चतुर्थ दोष को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—'किञ्चेत्यादि'। और प्रतीति के उपायों के अभाव में कैसे (रस की) प्रतीति हो सकती है?

५. अस्पष्ट (अप्रत्यक्ष) प्रतीति को उत्पन्न करने वाले शब्द तथा लिङ्ग (अनुमानप्रमाण) के होने पर भी (तज्जन्य) प्रतीति का विश्राम नहीं होता; क्योंकि स्फुट (प्रत्यक्षात्मक) प्रतीतिरूप प्रत्यक्ष के लिए प्रतीति की आकांक्षा बनी ही रहती है (शब्दादि प्रमाणों से प्रतीति होने पर भी जब तक प्रत्यक्षात्मक अनुभूति या प्रतीति नहीं होती, तद्विषयक इच्छा बनी ही रहती है)।

जैसा कि (वात्स्यायन ने अपने न्यायसूत्र १।३ के भाष्य में) कहा है—यह (शब्दादि प्रमाणों से उत्पन्न) सम्पूर्ण प्रमिति (ज्ञान या प्रतीति) प्रत्यक्षपरक होती है। (शब्द-प्रमाण से ज्ञात वस्तु को अनुमान की प्रक्रिया से सिद्ध किया जाता है और उसे भी प्रत्यक्ष से समझने की चेष्टा देखी जाती है। इसलिए अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों से उत्पन्न समस्त प्रतीतियों का झुकाव प्रत्यक्षपरक होता है)।

उक्त दोनों ही विघ्नों का निराकरण प्रस्तुत करते हैं—'स्वसाक्षात्' आदि से। अपने द्वारा साक्षात् किये गये पदार्थों में सैकड़ों शब्द तथा अनुमान-प्रमाणों से भी अन्यथाभाव (विपरीत) की प्रतीति नहीं होती। अलात-चक्र (जलते हुए अङ्गारे को घुमाने पर जो गोल चक्र दिखाई पड़ता है उसे अलात-चक्र कहते हैं) आदि में बलवान् साक्षात्कारात्मक प्रतीति होने के कारण ही उसकी (चक्र की) प्रतीति की अवधारणा होती है (यद्यपि वहाँ वास्तव में चक्र होता नहीं है), यह तो लौकिक क्रम है। इसलिए उन दोनों (प्रतीत्युपायवैकल्य तथा स्फुटत्वाभाव) से ही उत्पन्न विघ्न के निराकरण में लोकधर्मी वृत्ति तथा प्रवृत्ति से उपस्कृत अभिनय ही अभिषिक्त किये जाते हैं (अभिनय ही इन विघ्नों को निराकृत कर देता है; क्योंकि अभिनयन शब्द तथा अनुमान व्यापार से भिन्न ही प्रत्यक्ष व्यापार तुल्य होता है, इसे आगे निश्चित करेंगे)।

---

१. भ० प्यन्यथा।

अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति। तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यवि[1]श्रान्तत्वात्। अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखसंप्रेक्षिणि संभवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव तथा चर्वणा पात्रम्।

तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित्संविद इति (एव) प्रधानम्। तद्यथा—रतिः कामः तदनुषङ्गिधर्मार्थनिष्ठा। क्रोधस्तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठः। कामधर्मपर्यवसितोऽप्युत्साहः समस्तधर्मादिपर्यवसितः। तत्त्वज्ञानजनितनिर्वेदप्रायो विभावो मोक्षोपाय इति तावदेषां प्राधान्यम्। यद्यपि चैषामप्यन्योन्यं गुणभावोऽस्ति तथापि तत्तत्प्रधाने रूपके तत्तत्प्रधानं भवतीति रूपकभेदपर्यायेण सर्वेषां प्राधान्यमेषां ल (व) क्ष्यते। अदूर[2]भागाभिनिविष्टदशास्त्वेकस्मिन्नपि रूपके पृथक्प्राधान्यम्।

---

६. अब छठें विघ्न का स्वरूप—निराकरण प्रस्तुत करते हैं—'अप्रधाने चेत्यादि' से। और वस्तु (रस के) अप्रधान होने पर (गुणालङ्कार की प्रधानता में) किसकी प्रतीति विश्रान्त हो सकती है ? (अर्थात् किसी की भी नहीं) क्योंकि दूसरे प्रधान (गुणालङ्कारादि) के प्रति दौड़ने वाली उसी (अप्रधान) प्रतीति की अपने में विश्रान्ति नहीं होती। (अतः रसकी अप्रधानता उसकी अनुभूति में छठाँ दोष है)। अप्रधानता अचेतन विभाव-अनुभाव समूह में तथा संविद्रूप (ज्ञानात्मक) होने पर भी नियमतः दूसरे (स्थायी) का मुँख देखने वाले (स्थायी के प्रति उत्पन्न-विलीन होने वाले) व्यभिचारीभावों के वर्ग में भी हो सकती है। इसलिए उन (विभाव-अनुभाव-व्यभिचारीभाव) से अतिरिक्त स्थायीभाव ही चर्वणा का पात्र होता है (उसी का आस्वादन संभव है)।

वहाँ पुरुषार्थ से युक्त कुछ अनुभूतियाँ ही प्रधान होती हैं। जैसे कि रति (प्रधानतया) काम, तथा (गौणतया) उससे सम्बन्धित धर्म और अर्थनिष्ठ होती है। क्रोधप्रधान लोगों में क्रोध अर्थनिष्ठ होता है। काम तथा धर्म में (मुख्यतः) पर्यवसित होने वाला भी उत्साह समस्त धर्मादि में पर्यवसित होता है। तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेदप्राय (मुनि आदि रूप) विभाव (स्वरूप शान्तरस) मोक्ष का उपाय है। इस प्रकार इन (रति, क्रोध, उत्साह, निर्वेद आदि) की प्रधानता होती है।

यद्यपि इन (रत्यादि) में परस्पर के प्रति गुणभाव (अप्रधानत्व) भी होता है किन्तु उस-उस रसप्रधान रूपक में वही-वही रस प्रधान होता है। इस प्रकार रूपकों के भेद-क्रम से इन सबकी प्रधानता देखी जाती है। सन्निकट विषयों में दृष्टि का अभिनिवेश करने वाले (कुछ लोगों के अनुसार सूक्ष्म-दृष्टि वाले किन्तु उपयुक्त होगा अदूरदर्शी) के लिए तो एक ही रूपक में इनकी पृथक्-पृथक् प्रधानता होती है।

---

१. भ० त्मनि विश्राम्यत्वात्। २. भ० आदूर।

तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः। स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैकधनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। तथाहि—एकधनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्री[1]लोकस्य हृदयविश्रान्तिरन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् (सुखस्य)। अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम्। तत एव कापिलैर्दुःखस्य चाञ्चल्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्तितां वदद्भिरित्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्।

किन्तूपरञ्जकविषयवशात्तेषामपि[2] कटु किं नास्ति। स्पर्शो वीरस्य। स हि क्लेशसहिष्णुतादि प्राण एव। एवं रत्यादीनां प्राधान्यम्। हासादीनां तु सातिशयं सकललोकसुलभविभावतयोपरञ्जकत्वमिति (न) प्राधान्यम्। अत एवानुत्तमप्रकृतिषु बाहुल्येन हासादयो भवन्ति। पामर प्रायः सर्वोऽपि हसति शोचति बिभेति परनिन्दामाद्रियते। अल्पसुखभागितत्वेन च सर्वत्र विस्मयते। रत्याद्यङ्गतया तु पुमर्थोपयोगित्वमपि स्यादेषाम्। एतद्गुणप्रधानभावकृत एव च दशरूपकादिभेद इति वक्ष्यामः।

उनमें से ये सभी (रस) सुखप्रधान (आनन्दरूप) होते हैं; क्योंकि स्वानुभूति चर्वणारूप एकधन प्रकाश (आत्मज्ञान-रस) आनन्दप्रधान होता है (वस्तुतः यहाँ रसानुभूति को आत्मानुभूति के तुल्य बताने का प्रयास किया गया है। वेदान्ती के एकमात्र प्रकाशस्वरूप आनन्दधन आत्मावबोध की भाँति यहाँ रस को प्रकाशस्वरूप आनन्दमय बताया गया है)। जैसे कि, एकमात्र शोकानुभूति की चर्वणा में भी (शोक में हृदय की विश्रान्ति होने के कारण) लोक में (कोमल हृदय) स्त्री-वर्ग को भी हृदय की विश्रान्ति (आनन्दानुभूति) होती है; क्योंकि आनन्द विघ्नरहित विश्रान्तिरूप कहा गया है। (हृदय) की अविश्रान्ति का भाव ही दुःख है। इसीलिए कपिल के अनुगामी सांख्यमतावलम्बियों ने रजोगुण की वृत्तिता कहते हुए चञ्चलता (अविश्रान्ति) को ही दुःख का प्राण माना है। इस प्रकार सभी रसों की आनन्दरूपता ही है। किन्तु उपरञ्जक विषय के कारण वीर-रस की भाँति उनमें भी कटुत्व (दुःख) का स्पर्श तो रहता ही है; क्योंकि वह वीररस क्लेश, सहिष्णुता आदि प्रधान होता है। इस प्रकार रत्यादि (पूर्वोक्त चारों की) प्रधानता होती है। किन्तु हास आदि (शोक, भय, जुगुप्सा) का तो प्रभूततया सर्वसाधारण में प्राप्त विभावों के द्वारा उपरंजकत्व होता है, इसलिए इन (चारों) की प्रधानता नहीं होती। इसलिए हास आदि का (वर्णन) प्रधानतया नीचप्रधान प्रकृति में ही होता है। पामरप्राय सभी अधम प्रकृति के लोग (प्रधानतया) हँसते हैं, शोक करते हैं, डरते हैं तथा दूसरे की निन्दा का आदर करते हैं। और कम सुख के भागी होने के कारण सर्वत्र (अन्यों के वैभव आदि को देखकर) चकित होते हैं। किन्तु रत्यादि के अङ्गरूप में होने के कारण इनकी पुरुषार्थ में भी (कभी-कभी) उपयोगिता हो सकती है। इन

---

१. भ० ऽस्ति। २. हेम-काव्यानु-पाठ। मपि कटुकिता स्पर्शोऽस्ति वीरस्येव।

स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव हि जन्तुरीयतीभिः संविद्भिः परीतो भवति। तथाहि—

"दुःखसंश्लेषविद्वेषी सुखास्वादनसादरः।"

इति न्यायेन सर्वो रिरंसया व्याप्तः स्वात्मन्युत्कर्षमानितया परमुपहसन्नभीष्टवियोगसंतप्तस्तद्धे तुषु कोपपरवशोऽशक्तौ च ततो भीरुः किञ्चिदार्जिजीषुरप्यनुचितवस्तुविषयवैमुख्यात्मकतयाक्रान्तः किञ्चिदनभीष्टतयाऽभिमन्यमानस्तत्तत्स्वकर्तव्यदर्शनसमुदितविस्मयः किञ्चिच्च जिहासुरेव जायते। न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति। केवलं कस्यचित्काचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना। कस्यचिदुचितविषयनियन्त्रिता कस्यचिदन्यथा। तत्काचिदेव पुमर्थोपयोगिनीत्युपदेश्या। नहि भाव (ग) कृतश्चोत्तमप्रकृत्यादिव्यवहारः।

(रसों) के गुणप्रधानभाव से ही दश प्रकार के रूपक नाटक आदि का भेद किया गया है, इसे आगे कहेंगे।

और स्थायिभावत्व तो इतने ही मात्र का होता है; क्योंकि उत्पन्न हुआ जीव इतनी ही अनुभूतियों से युक्त होता है। जैसे कि—'दुःख-संयोग से विद्वेष करने वाला सुख के आस्वादन में आदरयुक्त होता है' इस न्याय से (१) सभी व्यक्ति अपने में उत्कर्ष का अभिमान लाने के कारण रमण करने की इच्छा से युक्त होते हैं (अर्थात् सबमें रतिभाव पाया जाता है), (२) दूसरे का उपहास करता है (हासरूप स्थायी से संयुक्त होता है), (३) अभीष्ट वस्तु के वियोग में पीड़ित होता है (शोकयुक्त होता है), (४) उन वियोग आदि कारणों के प्रति क्रोधयुक्त होता है (क्रोधरूप स्थायी से संपृक्त होता है), (५) और सामर्थ्य के अभाव में उससे डरता है (भययुक्त होता है), (६) कुछ प्राप्त करने की इच्छा रखता हुआ (उत्साहयुक्त होता हुआ), (७) भी अनुचित वस्तुरूप विषय की विमुखता से युक्त होकर किसी वस्तु को अनभीष्ट रूप में मानता है (जुगुप्सा-संवलित होता है,) (८) उन-उन अपने तथा दूसरों के (अलौकिक) कार्यों को देखकर उत्पन्न विस्मय वाला हो जाता है (विस्मय स्थायी-संपृक्त होता है), तथा (९) कुछ त्याग करने की इच्छा से युक्त होता है (निर्वेद से युक्त होता है)। (इस प्रकार ग्रन्थकार ने यह सिद्ध किया कि संसार का हर प्राणी इन वासनाओं से संयुक्त ही पैदा होता है। इनकी संख्या नौ तक हो सकती है। ये सभी चित्त की विभिन्न वृत्तियाँ ही हैं। आगे इसी का प्रतिपादन किया जायगा।) इन चित्तवृत्तियों की वासना से रहित कोई भी प्राणी नहीं होता (अर्थात् प्रत्येक में ये चित्तवृत्तियाँ वासना या संस्काररूप में पायी जाती हैं)। विशेषता केवल यह है कि, किसी में कोई चित्तवृत्ति अधिक होती है और किसी में कोई कुछ कम। किसी की चित्तवृत्ति उचित विषय में नियन्त्रित होती है तो किसी की इससे विपरीत (अनुचित विषय) में। इसलिए कोई ही पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में उपयोगिनी

ये पुनरमी ग्लानिशङ्काप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाभावाज्जन्ममध्येऽपि[1] न भवन्त्येव। तथाहि—रसायनमुपयुक्तवतो मुनेर्ग्लान्यालस्यश्रमप्रभृतयो नोत्तिष्ठन्ति। यस्यापि भवन्ति विभावबलात्तस्यापि हेतुप्रक्षये क्षीयमाणाः संस्कारशेषतां तावत् नावश्यमनुबध्नन्ति। उत्साहादयस्तु संपादितस्वकर्तव्यतया प्रलीनकल्पा अपि संस्कारशेषतां नातिवर्तन्ते। कर्तव्यान्तरविषयस्योत्साहादेरखण्डनात्।

यथाह पतञ्जलिः—"नहि चैत्र एकस्यां स्त्रियां रक्त इत्यन्यासु विरक्तः।" (पातञ्जल, व्यास, भा० २-४) इत्यादि।

होने के कारण उपदेशयोग्य होती है। और उनके विभाव (रामादि) के द्वारा उत्तम प्रकृति आदि (नायक प्रकृति) का व्यवहार किया जाता है।

ग्रन्थकार ने उपर्युक्त पंक्तियों में यह बताने का प्रयास किया कि, स्थायीभाव नियतरूप से सबमें पाये जाते हैं। ये चित्तवृत्तिरूप हैं। यह अवश्य है कि कहीं कोई अधिक मात्रा में तो कहीं कोई कम मात्रा में पाया जाता है। इस प्रकार यह निर्विवाद है कि स्थायी नियतरूप से सबकी वासना में संस्थित हैं। किन्तु इसके विपरीत व्यभिचारी (सञ्चारी) भाव अस्थिर होते हैं, का प्रतिपादन आगे की पंक्तियों में करेंगे—'ये पुनरादि' से।

और ये जो ग्लानि शंका आदि (३३ संञ्चारी) चित्तवृत्ति-विशेष हैं वे समुचित विभाव आदि के अभाव में जन्म (जीवन) के बीच भी नहीं पैदा होतीं (अर्थात् ग्लानि, शंका आदि भी चितवृत्ति की विशेष स्थितियाँ हैं। किन्तु रत्यादि की भाँति जन्मना प्रत्येक प्राणी में ये नहीं पायी जातीं। यही नहीं, व्यक्ति के जीवनकाल में भी समुचित विभावादि का संयोग होने पर ही इनकी उपस्थिति पायी जाती है, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह कि ये अस्थायी हैं)। जैसे कि रसायन (ओषधियों) का उपयोग करने वाले मुनि को ग्लानि, आलस्य, श्रम आदि नहीं पैदा होते। अथवा विभावादि के बल से जिसमें पैदा भी हो जाते हैं, उसके भी (विभावादि रूप) हेतुओं के विनष्ट हो जाने पर स्वयं विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार ये अवश्य रूप से संस्काररूप में अवशिष्ट रहें, का प्रतिबन्ध नहीं रहता। (इसीलिए इन्हें अस्थायीरूप होने के कारण व्यभिचारी या सञ्चारी कहा जाता है) किन्तु उत्साह आदि (स्थायीभाव तो) अपने कर्तव्यों को सम्पादित करके विनष्ट से प्रतीत होने पर भी संस्कारशेषता को लाँघते नहीं (अर्थात् वासनारूप में वर्तमान रहते हैं) क्योंकि दूसरे कार्यों के विषय में उत्साह आदि (एक कार्य समाप्त कर लेने पर भी) खण्डित नहीं होते।

जैसा कि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में कहा है कि, चैत्र एक स्त्री में रागयुक्त है, इसका यह अर्थ नहीं कि वह दूसरी स्त्रियों में विरक्त है (अर्थात् एक में अनुराग

---

१. म० भ० ज्जगन्मध्येऽपि।

तस्मात्स्थायिरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी व्यभिचारिणः स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणंप्रतिलभमाना रक्तनीलादिसूत्रस्यूतविरलभावो (गो)पलम्भनसम्भावितभङ्गीसहस्रगर्भस्फटिककाचभ्र (भ्रा)मक पद्मरागमरकतमहानीलादिमयगोलकवत्तस्मिन् सूत्रे स्वसंस्कारवैचित्र्यमनिवेशयन्तोऽपि तत्सूत्रकृतमुपकारसन्दर्भं[1] बिभ्रतः स्वयं च विचित्रार्थस्थायि सूत्रं च विचित्रयन्तोऽन्तरान्तरा शुद्धमपि स्थायिसूत्रं प्रतिभासावकाशमुपनयन्तोऽपिपूर्वापरव्यभिचारिरत्नच्छायाशबलिमानमानयन्तः प्रतिभासन्त इति व्यभिचारिण उच्यन्ते।

तथाहि—ग्लानोऽयमित्युक्ते कुत इति हेतुप्रश्नेन स्थायी तस्य सूच्यते।

होने पर भी उसका अनुराग वहीं नहीं समाप्त हो जाता, दूसरी में भी देखा जाता है। इस प्रकार रति खण्डित नहीं हुई)।

इसलिए स्थायीभावरूप चित्तवृत्ति के सूत्र में बँधे हुए ही ये व्यभिचारीभाव उद्भव और विलयरूप सैकड़ों-हजारों वैचित्र्यरूप अपने स्वरूप को प्राप्त करते हुए, लाल-नीले आदि सूत्रों में सूत्रित पृथक्-पृथक् रूप से पाये जाने के कारण सम्भावित हजारों विच्छित्ति के बीच स्फटिक, काच, अभ्रक, पद्मराग, मरकत तथा महानील आदि (मणियों) से बने गोलक की भाँति उस (स्थाय्यात्मक) सूत्र में अपने संस्कार के वैचित्र्य का समावेश न करते हुए, भी उस सूत्र द्वारा सम्पादित उपकार-विषय को धारण करते हुए, अपने को तथा विचित्र अर्थ वाले स्थायीरूप सूत्र को विभिन्न रूपों में चित्रित करते हुए, बीच-बीच में शुद्ध भी स्थायी सूत्र को प्रतिभासित होने का अवसर सुलभ कराते हुए भी पूर्वापर व्यभिचारीरूप रत्नों की शोभा से निश्चितरूप में शबलिमा (मिश्रण) को सर्वतः लाते हुए प्रतीत होते हैं, इसलिए व्यभिचारीभाव कहे जाते हैं।

ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि स्थायीभाव स्थिर तथा व्यभिचारी अस्थिर होते हैं। उदाहरण के लिए माला को लिया जा सकता है। माला में एक ही डोरे में विभिन्न रङ्गों के दाने सूत्रित किये जाते हैं। यद्यपि उनके द्वारा सूत्र की वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता किन्तु एक विशिष्ट प्रकार का सौन्दर्य तो आ ही जाता है। यह अवश्य है कि विभिन्न वर्णों के दानों के स्थल पर सूत्र में कुछ अन्तर तो अवश्य ही आ जाता है' पर कभी-कभी उसका वास्तविक स्वरूप भी प्रकाशित हो ही जाता है। ठीक इसी प्रकार स्थायीरूप सूत्र में अनेक अस्थायी व्यभिचारीभाव संपृक्त रहते हैं। यद्यपि इनसे स्थायी के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आ पाता, किन्तु बीच-बीच में वैचित्र्य का सन्निवेश होता रहता है तथा कभी-कभी स्थायी का शुद्ध सौन्दर्य भी स्पष्ट हो जाया करता है। तात्पर्य यह कि स्थायीभाव नित्य हैं, अस्थायी अनित्य।

जैसे कि, 'यह दुःखी है' ऐसा कहने पर 'किससे' (ग्लान है ?) इस प्रकार के

---

१. हेमव्याख्यातु-पाठः। लोकनात् सामग्री वा तु न व्यभिचारी।

न तु राम उत्साहशक्तिमानित्यत्र हेतुप्रश्नमाहुः। अत एव विभावास्तत्रोद्बोधकाः सन्तः स्वरूपोपरञ्जकत्वं विदधाना रत्युत्साहादेरुचितानुचितत्वमात्रमावहन्ति। न तु तदभावे सर्वथैव ते निरुपाख्याः। वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेनोक्तत्वात्। व्यभिचारिणां तु स्वविभावाभावे नामापि नास्तीति। वितनिष्यते चैतद्यथा योगं व्याख्यावसरे। एवमप्रधानत्व निरासः स्थायिनिरूपणायां "स्थायिभावान् रसत्वम्" (ना० शा० अ-६) इत्यनया सामान्यलक्षणशेषभूतयाविशेषलक्षणनिष्ठया च कृतः।

तत्रानुभावानां विभावानां व्यभिचारिणां च पृथक्स्थायिनि नियमो नास्ति। बाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात्। व्याघ्रादेश्च क्रोधभयादि हेतुत्वात्। 'श्र (श्र) मचिन्तादेरुत्साहभयाद्यनेकसहचरत्वावलोकनात्'। एवं संशयोदये शङ्कात्मकविघ्नशमनाय 'संयोग' उपात्तः। सामग्री तु न

हेतुविषयक प्रश्न से इसकी (ग्लानता की) अस्थायिता सूचित होती है (तात्पर्य यह कि ग्लानि किसी हेतु-विशेष से ही है, उसके अभाव में ग्लानि भी नहीं रह सकती। अतएव यह भाव अस्थायी या व्यभिचारी है)। किन्तु 'राम उत्साह-शक्ति से युक्त है' यहाँ कोई हेतुविषयक प्रश्न नहीं है (अर्थात् यह स्वभावतः व्यक्ति में पाया जाता है अतः उत्साह स्थायी है, व्यभिचारी नहीं)। इसलिए वहाँ (रसप्रतीति में) विभावादि (रत्यादि के) उद्बोधक होते हुए (उनके) स्वरूप का उपरञ्जन करते हुए रति, उत्साह आदि स्थायीभावों के उचित-अनुचित रूप मात्र को प्रस्तुत करते हैं। न कि उन (विभावादि) के अभाव में वे (स्थायी) सर्वथा ही स्वरूपत्व को प्राप्त नहीं होते; क्योंकि सभी प्राणी वासनारूप से तन्मय (रत्यादि युक्त) होते हैं, कहा जा चुका है। किन्तु व्यभिचारीभावों का तो अपने विभाव के अभाव में नाम भी नहीं होता। इसे व्याख्या के समय यथोपयुक्त रूप में विस्तृत करेंगे। इस प्रकार स्थायीभावों के निरूपण में 'स्थायीभावों को रसरूपता प्राप्त करायेंगे' इस सामान्य लक्षण के शेषभूत तथा (रसों के) विशेष लक्षण-निरूपण में निष्ठ व्याख्यानों द्वारा अप्रधानत्व-रूप (छठें दोष) का निराकरण किया।

अब तक ग्रन्थकार ने रसप्रतीति के छः विघ्नों का स्वरूप-निरूपण तथा निराकरण किया। अब आगे सातवें दोष-संशय के विषय में कहेंगे 'तत्रादि' के द्वारा।

वहाँ (रसप्रतीति में) विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों का (रत्यादि) स्थायीभावों में पृथक्-पृथक् रूप से (होने का) कोई नियम नहीं है। क्योंकि (करुण-रस के अनुभाव) आँसू आदि आनन्द तथा आँखों के रोगादि से भी उत्पन्न देखे जाते हैं (ऐसे में आँसू आदि से शोक या अन्य उसके कारणों का सन्देह हो सकता है)। और व्याघ्र आदि (विभाव) (रौद्र-रस के स्थायीभाव), क्रोध तथा भय (भयानक-रस के स्थायीभाव) के हेतुरूप में पाये जाते हैं (अतः व्याघ्रादि के दर्शन में

व्यभिचारिणी। तथाहि—बन्धुविनाशो यत्र विभावः परिदेविताश्रुपातादिस्त्वनुभावः चिन्ता[1]दैन्यादिर्व्यभिचारी सोऽवश्यं शोक एव।

तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मकपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षा[2]दिभिर्लौकिकी कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः, अत एवालौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनख्यापनाय विभावादिनामधेय व्यपदेश्यैर्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदैर्गुणप्रधानतापर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वाऽऽसादितवद्भिरलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो, नतु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव, नतु चर्वणातिरिक्त कालावलम्बी स्थायि विल (थिल) क्षण एव रसः। नतु (नल) यथा शङ्कुकादिभिरभ्यधीयत, "स्थाय्येव विभावादि प्रत्याय्यो रस्यमानत्वाद्रस उच्यते।" इति। एवं हिलौकिकेऽपि किंन रसः। अस-

---

क्रोधात्मक रौद्ररस या भयानक की प्रतीति होगी !)। इसी प्रकार श्रम, चिन्ता आदि (व्यभिचारीभावों) का उत्साह तथा भय आदि अनेक (अनुभाव के) सहभाव में देखे जाते हैं (ऐसे में भी उत्साह या भयानक का अनुभव किया जाना चाहिए !)। इस प्रकार के संदेह के उत्पन्न होने पर इस संशयात्मक (रसप्रतीति के) विघ्न के शमन के लिए (इस सूत्र में मुनि ने) 'संयोग' पद ग्रहण किया है (तात्पर्य यह है कि, विभाव-अनुभाव आदि पृथक्-पृथक् रूप से संशय के जनक हो सकते हैं किन्तु जब उन सबका स्थायी से संयोग होगा तो वहाँ तो एकमात्र स्थायी का ही परिपोष होगा और उसी की प्रतीति भी होगी। अतः संशय नहीं हो सकता। इसी को आगे कहते हैं कि उनके संयोग की) सामग्री तो व्यभिचारिणी (संशयात्मक) नहीं है। जैसे कि, जहाँ बन्धुजन का विनाश विभाव होगा; संताप, आँसू का गिरना आदि अनुभाव होगा तथा चिन्ता दीनता आदि व्यभिचारी होगा तो वहाँ अवश्य ही वह शोक होगा (सन्देह का कोई अवसर ही नहीं है)। (तात्पर्य यह कि सातवें दोष का निराकरण 'संयोग' पद से ही हो जाता है)।

तो लोक-व्यवहार में कार्य-कारण तथा सहचाररूप लिङ्ग के अवलोकन में स्थायीरूप दूसरे की चित्तवृत्ति के अनुमान के अभ्यास की पटुता के कारण, इस समय (प्रेक्षण-काल में) उन्हीं कटाक्ष-अवलोकन आदि (नाटक आदि में) लौकिक कारणत्व आदि रूप को छोड़ कर विभावन, अनुभावन तथा उपरञ्जक रूप मात्र प्राण, इसलिए अलौकिक विभाव आदि (अनुभाव-व्यभिचारी) नाम को प्राप्त, पुराने (लौकिक अवस्था में प्राप्त) कारण आदिरूप संस्कारों के

---

१. भ० भ० चिन्तादैन्यादि व्यभिचारिणः। २. न० भ० धृत्यादिभिः। हेम-काव्या-वृक्षादि।

तोऽपि हियत्र रसनीयता स्यात्तत्र वस्तुसतः कथंन भविष्यति। तेन स्थायि प्रतीतिरनुभितिरूपा प्राच्या[1] (प्या)। न रसः। अत एव सूत्रे स्थायि ग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। केवलमौचित्यादेव-मुच्यते स्थायी रसीभूत इति। औचित्यं तु तत् स्थायिगतत्वेन कारणा-दितया प्रसिद्धानामधुना चर्वणोपयोगितया विभावादित्वावलम्बनात्।

उपजीवित्व को व्यक्त करने के लिए विभाव आदि (अनुभाव तथा व्यभिचारी) नाम से व्यपदिष्ट, भावाध्याय (सप्तम अध्याय) में जिनका स्वरूप और भेद कहेंगे, सामाजिक की बुद्धि में गुण-प्रधान भाव से सम्यग्योग, सम्बन्ध अथवा एकाग्रता को प्राप्त (विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के योग) से लोकोत्तर एवं निर्विघ्न अनुभूतिरूप चर्वणा की विषयता को प्राप्त (रत्यादिरूप) अर्थ, केवल चर्व्यमाणता ही जिसका तत्त्व है (चर्वणापर्यन्त ही आस्वाद्य) न कि (घटादि के समान पूर्व से ही) सिद्धस्वरूप, मात्र उस समय (विभावादि के संयोग-काल में होने वाले आस्वाद) तक ही रहने वाला न कि चर्वणा से अतिरिक्त काल में (रहने वाला) स्थायीभाव से विलक्षण ही 'रस' होता है।

इसी बात को मम्मट ने इन शब्दों में कहा है—'लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमाने-ऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारव-त्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैः, ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात्, साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः, सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको, नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारण्योपायबलात्, तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृ-भाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसंपर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतः चर्व्यमाणतैकप्राणो, विभावादिजीवि-तावधिः, पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः, पुर इव परिस्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वा-ङ्गीणमिवालिङ्गन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्, अलौकिक-चमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।'

और पण्डितराज जगन्नाथ ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—'समुचितललित-सन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः, सहृदयहृदयं प्रविष्टैः, तदीयसहृदयतासहकृतेन, भावनाविशेषमहिम्ना, विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभि-चारिशब्दव्यपदेश्यैः, शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः, चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैः, अश्रुपातादिभिः कार्यैः, चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च, सम्भूय, प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण, तत्कालनिवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिज-धर्मेण प्रमात्रा, स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्वि-निविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।'

१. म० भ० जीवितः ख्यापनाय। २. हेम० काव्या० वाच्या।

तथा (दा) हि लौकिक चित्त वृत्त्यनुमाने का रसता। तेनालौकिक चमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमान लौकिक[1] संवेदन[2] विलक्षण एव।

तथाहि—लौकिके नानु भानेन संस्कृतः प्रमदादिना (दिन) ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते। अपितु हृदय संवादात्मकसहृदयत्वबलात्पूर्णी भविष्यद्रसा-

इन सबसे अधिक स्पष्ट विवेचन विद्याधार का है—'विभावैर्ललनादिभिरालम्बन-कारणैरङ्कुरितः, सितकरकोकिलालापमलयानिलकेलिकाननादिभिरुद्दीपनकारणैः कन्दलितो, अनुभावैर्नयनान्तावलोकितस्मितभुजवल्लीवेल्लनादिभिः प्रतीतिपद्धतिमध्या-रोपितो, व्यभिचारिभिश्चिन्तादिभिः पल्लवितः, कदाचिदपि नानुभूतोऽभिधया, न कर्णा-तिथीकृतस्तात्पर्येण, न लक्ष्यीकृतो लक्षणया, न स्वविषयं प्रापितः प्रत्यक्षेण, नात्मनः सीमा-नमानीतोऽनुमानेनापरिशीलितसरणिः स्मरणेन, नाक्रान्तः कार्यतया, न ज्ञातो ज्ञाप्यतया, विगलितवेद्यान्तरत्वेन, परिमितावनधीती, ध्वननाभिधानाभिनवव्यापारपरिरम्भनिर्भरतया-नुकार्यानुकर्तृगतत्वपरिहारेण, सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको भाव एव विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणश्चर्व्यमाणतैकप्राणः समुल्लसन् ब्रह्मास्वादसब्रह्मचारी लोकोत्तरचमत्कारकारी श्रृङ्गारादिको रसोऽभिधीयते।' (एकावली, पृ० ८७-८८)।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने अभिमत रसस्वरूप की सिद्धि उक्त पंक्तियों में बतलाई। साथ ही प्रकारान्तर से उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया कि, रस की स्थिति तभी तक रहती है जब तक कि विभावादि का योग बना रहता है। तात्पर्य रस स्थायी नहीं है जब कि रत्यादि स्थायी सदा ही चित्तवृत्ति में वर्तमान रहते हैं और उपयुक्त वातावरण को पाकर रसरूप में परिणत होते रहते हैं। इस प्रकार स्थायीभाव को या स्थायी के अनुकरण को रस मानने वालों का पक्ष भी खण्डित हो जाता है। आगे ग्रन्थकृत् शङ्कुक आदि के मत को अन्तिम रूप से अयुक्त सिद्ध करेंगे—नतु यथेव्यादि से।

न कि जैसा शंकुक आदि ने कहा है कि विभाव आदि के द्वारा प्रतीति-योग्य कराया गया स्थायीभाव ही रस्यमान होने के कारण रस कहा जाता है (वैसा रस-स्वरूप है)। क्योंकि, ऐसा मानने पर लौकिक (रत्यादि किंवा सामाजिक से भिन्न सामान्य व्यक्ति) में भी रस (प्रतीति) क्यों न होगी ? क्योंकि, जहाँ (सामाजिक) में अविद्यमान भी (रत्यादि) की रसनीयता संभव है तो वहाँ (लौकिक में) विद्यमान रत्यादि की रसनीयता क्यों नहीं होगी ? इसलिए (ऐसा मानने पर) स्थायी की प्रतीति को अनुमितिरूप कहना चाहिए, रस नहीं। इसीलिए (भरतमुनि ने) सूत्र में स्थायी का ग्रहण नहीं किया। क्योंकि वह (उपयोगी होने के बजाय) व्याधि-भूत हो जाता। (सूत्र में स्थायी ग्रहण करने पर उसका अर्थ होता कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से स्थायी ही रसरूप में निष्पन्न हो जाता है जो पूर्णतः अयुक्त था। इसीलिए सूत्रकार ने सूत्र में स्थायी का उल्लेख नहीं किया। और जो यह कहा

१. भ० भ० अचिन्त्यम्। २. भ० स्वसंवेद।

स्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मृत्यादिसोपानमनारुह्यैव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्रवणतया। न च सा चर्वणा प्राङ्मानान्तरात् येनाधुना स्मृतिः स्यात्। न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारः। किन्त्वलौकिकविभावादिसंयोग बलोपनतैवेयं चर्वणा। सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनित रत्याद्यवबोधतः तथा योगिप्रत्यक्षजनित तटस्थपरसंवित्तिज्ञानात्सकल-वैषयिकोपरागशून्यशुद्धपरयोगिगतस्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते।

जाता है कि 'स्थायी ही रस हो गया' वह मात्र औचित्यवश (गौणतया) कहा गया है (वैसा होता नहीं)।

और वह औचित्य तो (यह है कि) स्थायिगत होने के कारण आदिरूप में प्रसिद्ध और अब (रसानुभूति के क्षण) चर्वणा में उपयोगी होने के कारण विभावत्व आदि का अवलम्बन करने के कारण (कहा जाता है कि स्थायी ही रस हो गया। वस्तुतः विभावादि के द्वारा ही स्थायी का उद्बोध होता है इसलिए वे स्थायी के कारण कहे जाते हैं और रसानुभूति-काल में चूँकि विभावन आदि की स्थिति तक ही रस की स्थिति मानी जाती है, होती है इसलिए यह कहा जाता है कि स्थायी ही रस हो गया)। इस पर पूर्वपक्षी कह सकता है कि जब ऐसी बात है तो जहाँ विभावादि का योग नहीं रहता है ऐसे लौकिक चित्तवृत्ति के अनुमान में कौन-सी रसवत्ता होगी ? ग्रन्थकार इसे अपने पक्ष में मानते हुए कहते हैं—इसीलिए तो रसास्वाद, स्मृति, अनुमान तथा लौकिक प्रत्यक्षज्ञान से विलक्षण, अलौकिक चमत्काररूप होता है। इसी को आगे और पुष्ट करते हैं—तथाहीति आदि से। क्योंकि लौकिक अनुमान से संस्कृत प्रमदा आदि (विभाव नाटकादि में सामाजिक के समक्ष परगत प्रमदादि की तरह) तटस्थरूप से उपस्थित नहीं होते अपितु, हृदय संवादरूप (साधारणीकरणरूप) सहृदयता के बल से, पूर्ण होते हुए रसास्वाद के उन्मेषभाव से, अनुमान-स्मृति आदि की परम्परा में बिना आये ही तन्मयीभाव के योग्य चर्वणा की प्रवणता (रूप में उपस्थित होते हैं)। रसानुभूति स्मृत्यादि प्रमाणों से विलक्षण है, आगे की पंक्तियों में बतायेंगे—न चेत्यादि से।

और वह चर्वणा (विभावादि के संयोग से जायमान रसोन्मेष से) पूर्व किसी अन्य प्रमाण से नहीं होती कि जिससे उसे अब (चर्वणा दशा में) स्मृति माना जाय। और न ही यहाँ लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का व्यापार है। किन्तु यह चर्वणा अलौकिक विभावादि के संयोग से ही उपस्थित होती है (अलौकिक ही होती है)। और वह प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान आदि लौकिक प्रमाण से उत्पन्न रत्यादि प्रतीति से तथा योगिप्रत्यक्ष से उत्पन्न तटस्थपरसंवित्तिज्ञान से और विषयजन्य समस्त उपराग (प्रीत्यादि) से रहित परमशुद्ध योगिगत आनन्दघन आत्मानुभव से विशिष्ट होती है। ऊपर की ये पंक्तियाँ व्याख्येय हैं :—

प्रत्यक्ष ज्ञान को सामान्यतः तीन कोटियों में रखा जाता है—(१) अस्मदादि का,

एतेषां यथायोगमर्जनादि विघ्नान्तरोदयात्ताटस्थ्येऽस्फुटत्वविषयावेशवैवश्य-कृतसौन्दर्यविरहात्। अत्र तु स्वात्मात्मैकगतत्वनियमासंभवात् न विषया-वेशवैवश्यम्। स्वानुप्रवेशात् परगतत्वनियमाभावात् न ताटस्थ्यास्फुटत्वे। तद्विभावादिसाधारण्यवशसंप्रबुद्धोचितनिजरत्यादिवासनावेशवशाच्च न

(२) मितयोगी या सविकल्पक समाधि में स्थित युञ्जान योगियों का तथा (३) परिमितेतर योगी या निर्विकल्प समाधि में स्थित परिपक्वयुक्त योगियों का प्रत्यक्ष ज्ञान। अस्मदादि का प्रत्यक्ष बोध अनुमानादि प्रमाणों से हो जाता है। मितयोगियों का ज्ञान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विना योगज सामर्थ्य (प्रमाण-ताटस्थ्य) से ही हो जाता है। परिमितेतर या अपरिमित योगियों को, जो निर्विकल्पक समाधि में वर्तमान रहते हैं, वेद्यान्तर संस्पर्श से शून्य केवल आत्मावबोध मात्र से उन्हें आनन्दघन की प्रतीति होती है। रसानुभूति इन तीनों लौकिक प्रत्यक्षादि, मितयोगिज्ञान तथा परिमितेतर योगिज्ञान से विलक्षण होती है। मम्मट ने इस बात को अधिक स्पष्ट लिखा है—'लौकिकप्रत्यक्षादि, प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञान, वेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवमितपरि-मितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचरः······।' (का० प्र०)। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी उक्त तथ्य को स्पष्ट कहा है—'विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहित स्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगि-नश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्।······इयं च परब्रह्मास्वादात् समाधे-र्विलक्षणा, रसगङ्गाधर।

यह चर्वणा उपर्युक्त तीनों ज्ञानों से विलक्षण क्यों है? का प्रतिपादन करते हैं—एतेषाम्, से। इन (उपर्युक्त) तीनों ज्ञानों में क्रमशः (१) (अस्मदादि के प्रत्यक्ष ज्ञान में) अर्जन आदि अन्य विघ्नों के उदय हो जाने से, (२) (परिमितयोगी के ज्ञान में) तटस्थता एवं अस्पष्टता होने के कारण तथा (३) (परिमितेतरयोगी के स्वात्मनिष्ठ प्रत्यक्ष में) विषय-प्रवेश की विवशता (के भय) के कारण सौन्दर्य का अभाव पाया जाता है। और यहाँ (रसचर्वणा में) तो (परिमितेतर) योगी के समान (रसप्रतीतिका) एकमात्र अपने (केवल किसी एक) में ही होने का नियम असंभव है (क्योंकि रसचर्वणा तो सभी सामाजिक को समानरूप से होती है)। अतः विषयावेश की विवशता नहीं है।

और (परिमित योगी के ज्ञान की भाँति यहाँ) तटस्थता एवं अस्पष्टता भी नहीं आती; क्योंकि (रसप्रतीति में सामाजिक की) अपनी आत्मा भी अनुप्रविष्ट रहती है तथा केवल परगतत्व (नटनिष्ठत्व) के नियम का अभाव रहता है। उन विभाव आदि के साधारणीकरण के कारण उचितरूप से उद्बुद्ध (सामाजिक की) अपनी रत्यादि वासना के आवेश के कारण (रसचर्वणा में अस्मदादि प्रत्यक्ष की भाँति अर्जनादि) अन्य विघ्नों का होना संभव नहीं है, ऐसा अनेक बार कह चुके हैं। इसलिए विभावादि रस के निष्पत्ति-हेतु (कारक) नहीं हैं; क्योंकि उनके ज्ञान के अभाव में भी रसोत्पत्ति का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा।

विघ्नान्तरादीनां सम्भव इत्यवोचाम बहुशः। अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात्।

नापि ज्ञप्तिहेतवो येन प्रमाणमध्ये पतेयुः। सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्।

किं तर्ह्येतद्धि विभावादय इति? अलौकिक एवायं विभावादि चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः।

वस्तुतः संसार के समस्त अनित्य पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—कार्य और ज्ञाप्य। किसी कारण से उत्पन्न होने वाली वस्तु कार्य कही जाती है जैसे घट, पटादि। कार्यवस्तु अपने निमित्त के विनष्ट हो जाने पर भी बनी रहती है जैसे घट, अपने निमित्त-कारण कुम्हार के नष्ट हो जाने पर भी बना रहता है। पूर्वसिद्ध वस्तु का किसी हेतु से प्रकाशन हो जाना ज्ञाप्य कहलाता है। जैसे अन्धकार में रखा हुआ घट दीपक से प्रकाशित हो जाता है। दीप उसका ज्ञापक हेतु है और घट ज्ञाप्य। इस प्रकार ज्ञाप्य वस्तु ज्ञान के पूर्व और बाद भी वर्त्तमान रहती है यह सिद्ध होता है। ग्रन्थकार का कहना है कि रस न कार्य है न ज्ञाप्य, विभावादि न उसके कारक हैं न ज्ञापक। ऊपर की पंक्ति में यह बताया है कि विभावादि रस के निष्पत्ति अर्थात् कारक हेतु नहीं हैं; क्योंकि यदि उन्हें कारक माना जायगा तो रस को कार्य मानना होगा। ऐसी स्थिति में कार्य घटादि जिस प्रकार अपने निमित्त के अभाव में वर्त्तमान रहता है रस को भी विभाव आदि के अभाव में रहना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं। रसानुभूति 'विभावादिजीवितावधिः' कही गयी है। अतः विभाव आदि रस के कारक-हेतु नहीं हैं, न रस कार्य ही है। आगे 'नापि' से रस की ज्ञाप्यता का भी खण्डन करेंगे—

और (विभावादि रस के) ज्ञापक हेतु भी नहीं हैं कि, जिससे वे प्रमाणों के बीच रखे जायें; क्योंकि (पूर्वसिद्ध घटादि की भाँति पूर्व) सिद्ध किसी प्रमेयभूत रस का अभाव पाया जाता है। इस पर पूर्वपक्षी सन्देह करता है कि, फिर तो ये विभावादि क्या हैं? उत्तर देते हैं—चर्वणा में उपयोगी यह विभावादि का प्रयोग अलौकिक ही है। पूर्वपक्षी पुनः सन्देह करता है कि, संसार की समस्त वस्तुएँ दो प्रकार की ही हैं:—कार्य और ज्ञाप्य। आप कहते हैं कि रस न कार्य है न ज्ञाप्य। फिर है क्या? संसार में अन्यत्र और कहाँ ऐसा देखा जाता है? ग्रन्थकार चातुरी से इसे अपने पक्ष के समर्थन में डाल देते हैं—यह तो हमारे (रस की) अलौकिकता की सिद्धि में भूषण ही है (दूषण नहीं, क्योंकि संसार में ऐसा अन्यत्र देखा नहीं जाता है। इसीलिए तो रस को हम लोकोत्तर कहते हैं।) उदाहरण देते हैं पानक रस (देशी 'पना') का। पना में नमक, जीरा, मिर्च, गुड आदि अनेक वस्तुओं का सम्मिश्रण पाया जाता है। जो स्वाद 'पना' का होता है वह उससे भिन्न गुड, मिर्च आदि में नहीं पाया जाता। इसी बात को कहते हैं—पानक रस का आस्वाद (जो पाया जाता है) क्या वह उसके अवयवभूत गुड़, मरिच आदि में देखा जाता है! अर्थात् नहीं। यही बात यहाँ भी समानरूप से पायी जाती है।

क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेत्, भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ। पानकरसास्वादोऽपि किं गुडमरिचादिषु दृष्ट इति समानमेतत्।

नन्वेवं रसोऽप्रमेयः स्यात्? एवं युक्तं भवितुमर्हति। रस्यतैकप्राणोह्यसौ, न प्रमेयादिस्वभावः। तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम्? नेयं रसस्य, अपि तु तद्विषयरसनायाः। तन्निष्पत्त्या तु यदि तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते न कश्चिदत्र दोषः।

सा च रसना न प्रमाणव्यापारो न कारकव्यापारः। स्वयं तु नाप्रामाणिकी स्वयंसंवेदनसिद्धत्वात्। रसना च बोधरूपैव। किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव। उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसनायतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य।

अयमत्र संक्षेपः। मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढप्राक्तनसंवित्संस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधी-

---

प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ऐसी बात है कि रस न कार्य है न ज्ञाप्य तो फिर इस प्रकार तो रस अप्रमेय होगा? ग्रन्थकार का अभीष्ट भी यही है अतः कहते हैं— यही ठीक हो सकता है। आस्वाद्यता मात्र ही इसका प्राण है। यह प्रमेय आदि स्वरूप वाला नहीं है। पुनः प्रश्न होता है कि, सूत्रकार ने अपने सूत्र में 'निष्पत्ति'-पद का प्रयोग किया। कोई भी निष्पन्न वस्तु प्रमेय से बहिर्भूत हो नहीं सकती, और आप कहते हैं कि रस अप्रमेय है तो यह सूत्रकार के कथन से विरोध उत्पन्न हो जाता है। इसी को पूर्वपक्षी कहता है—तो (रस) सूत्र में 'निष्पत्ति' यह (पद) कैसे प्रयुक्त किया गया? ग्रन्थकार का उत्तर है कि, (सूत्र में कही गयी) यह निष्पत्ति रस की नहीं है अपितु, उसके विषयभूत रसना (चर्वणा) की निष्पत्ति है। और उस (रसना) की निष्पत्ति से उस (रसना) मात्र पर ही अवलम्बित प्राण रस की निष्पत्ति कही जाती है तो यहाँ कोई दोष नहीं है (क्योंकि यह कथन उपचार मात्र है)।

और वह रसना (आस्वाद्यता) न (ज्ञापक हेतु-रूप) प्रमाणों का व्यापार है और न ही कारक (हेतु) का व्यापार है। किन्तु स्वयं भी अप्रामाणिकी (मिथ्या) नहीं है; क्योंकि वह अपनी अनुभूति से ही सिद्ध है। और रसना-ज्ञान (अनुभूति या प्रतीति) रूप ही है, किन्तु अन्य लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण ही है। क्योंकि उसके उपायभूत विभावादि लौकिक उपायों (कारणादि) से विलक्षण होते हैं। इसलिए विभावादि के संयोग से क्योंकि रसना की निष्पत्ति होती है, अतः उस प्रकार की रसना (चर्वणा, अनुभूति, प्रतीति, आस्वाद्यता) का गोचरीभूत लोकोत्तर अर्थ रस (निष्पन्न कहा जाता है), यही (रस) सूत्र का तात्पर्य है।

अब आगे सूत्र का संक्षेप में भाव बता रहे हैं कि किस प्रकार नट में नटत्वादि का बोध रसानुभूति के क्षण नहीं रह जाता, क्यों नही उसमें अर्जनादि विघ्नों का उदय

विश्राम्यति। अत एवोभयदेशकालत्यागः। रोमाञ्चादयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तथापि लौकिकदेशकालानियमेन तत्र रतिं गमयन्ति। यस्यां स्वात्मापि तद्वासनावत्वादनुप्रविष्टः। अत एव न तटस्थतया रत्यवगमः न च नियतकारणतया येनार्जनाभिषङ्गादिसम्भावना। न च नियतपरात्मैकगततया येन दुःखद्वेषाद्युदयः। तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्तेरेकस्या एव वा संविदो गोचरभूता रतिः श्रृङ्गारः। साधारणीभावना च विभावादिभिरिति। तत्र विभावप्राधान्येन साधारणीभावो यथा—

हो पाता है आदि। अयमिति—इस (विवेचना) का संक्षेप इस प्रकार है। (अभिनयकाल में) नट में होने वाली (सामाजिक की) नटबुद्धि (अनुकार्य रामादि की वेष-भूषा के समान नट द्वारा धारण किये गये) मुकुट, प्रतिशीर्षक (पगड़ी) आदि (अन्य वेष-रचना) से आच्छादित हो जाती है। और पूर्वकाल के गाढ़ बोध एवं संस्कार के द्वारा काव्यबल से लायी जाती हुई भी रामबुद्धि उस (नट) में बद्धमूल नहीं हो पाती। अतएव दोनों (नट एवं रामादि) के देश-काल का परित्याग हो जाता है। और रोमाञ्च आदि (व्यभिचारीभाव लोक में) यद्यपि बहुधा रतिप्रतीति के हेतुरूप में देखे गये होते हैं तथापि वे (अभिनय के समय) लौकिक देश-काल आदि के नियम के विना ही नट में रति का बोध कराते हैं (लौकिक रोमाञ्चादि नियत काल-देश एवं व्यक्ति में देखे जाते हैं, किन्तु नाटक आदि में वे किसी नट या परिमित व्यक्ति-विशेष, काल आदि के प्रतीत नहीं होते, साधारणीकरण द्वारा परिमितत्व का परिहार हो जाता है)। जिस (प्रतीति) में (सामाजिक की) अपनी आत्मा भी उस वासना से युक्त होने के कारण अनुप्रविष्ट हो जाती है। इसलिए रत्यादि की प्रतीति न तो तटस्थरूप में होती है, न (रामादिरूप) नियत कारणभाव से कि जिससे उसमें अर्जनादि संसर्ग (रूप विघ्नों) की संभावना हो। (नाटक आदि में दूसरे की रत्यादि को देखकर लोगों में दुःख-द्वेष आदि क्यों नहीं आता, का उत्तर है कि यह रत्यादि की प्रतीति) न तो नियतरूप से पर (नट या नियत सामाजिक) गत या मात्र स्वगत ही होती है कि, जिससे दुःख, द्वेष आदि (घृणा, आदि) की उत्पत्ति हो (क्योंकि यह प्रतीति न नियत प्रमातृगत होती है न नटादि-गत, प्रत्युत साधारणीभूत होने के कारण इन सबसे पृथक् अलौकिक रूप होती है जिससे द्वेषादि की संभावना ही नहीं रहती। एकावलीकार ने इसी को यों व्यक्त किया है— 'ततश्च करुणादीनां दुःखरूपत्वात् कथंकारमुपपद्यते रसत्वमिति चेन्न। विगलितवेद्यान्तरत्वमानन्दस्य रूपम्।' एकावली, पृ० ९५। अर्थात् रत्यादि की प्रतीति या रसानुभूति क्षण में वेद्य अन्य-वस्तुओं का ज्ञान ही नहीं रहता)। इसलिए (विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार, जो केवल स्वसंवेदन को ही ज्ञान का सत्य रूप मानते हैं तथा बाह्य-जगत् को केवल बौद्धिक आभास मानते हैं,) साधारणीभूत चित्तवृत्ति संतान की (स्वसंविद) अथवा (नित्यवादी न्यायमतावलम्बी दार्शनिकों की दृष्टि में) एक ही संविद (ज्ञान या

केलीकन्दलितस्य विभ्रममधोः धुर्यं वपुस्ते दृशो-
र्भङ्गीभङ्गुरकामकामुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रमः।
आघ्रातोऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः
सत्यं सुन्दरि वेधसस्त्रिजगतीसारा त्वमेकाकृतिः॥

अत्र च विभावकृतं तत्सौन्दर्यप्राधान्येन भाति। तदनुगतत्वेन केलीविभ्रमभङ्गुरनर्मवचो महिम्ना चानुभाववर्गो; भङ्गीक्रमविकारादिशब्दबलाच्च व्यभिचारिवर्गः प्रतिभातीति। अत एव नास्फुटत्व शङ्कात्र रसास्वादमये शृङ्गारे विधेया।

प्रतीति) की प्रत्यक्षीभूत रति आदि ही शृङ्गार आदि रस कही जाती है। और साधारणी भावना या साधारणीकरणता विभाव आदि के द्वारा होती है।

यह साधारणीभाव कहीं केवल विभाव की प्रधानता से, कहीं अनुभाव की प्रधानता से, कहीं व्यभिचारी की प्रधानता से तथा कहीं तीनों की समप्रधानता से होता है। उसी का यहाँ क्रम से सोदाहरण विवेचन करेंगे। विभाव की प्रधानता में साधारणीभाव दिखाते हैं—केलीत्यादि से। यह श्लोक अभिनवगुप्त का निजी है। लोचन में उन्होंने इसे अतिशयोक्ति ध्वनि में प्रस्तुत किया है (लो० पृ० २९८, चौखम्बा सं०)। किसी रमणी की अद्वितीय सुन्दरता का वर्णन है। कोई देखकर उसे कहता है—'हे सुन्दरि, वास्तव में तुम त्रिलोकी की सारभूत ब्रह्मा की अद्वितीय सृष्टि हो। (क्योंकि) तुम्हारा शरीर रत्यादि केलि से उत्पन्न होने वाले विभ्रम (हाव-भावरूप) मधु को (अच्छी तरह) धारण कर रहा है। तुम्हारे नेत्रों के भौंहों का यह नर्मकर्म प्रकार (विलास) भङ्गी (विच्छित्ति के अतिशय, भार या रचना-विशेष से) भज्यमान काम का (टेढ़ा) धनुष है और मुखकमल से उत्पन्न मद विधिवत् घ्राणमात्र से ही विकार को उत्पन्न कर देता है।

श्लोक के उत्तरार्द्ध के प्रथम पाद में आया 'वक्त्राम्बुजन्मासवः' को लेकर कुछ व्याख्याकार ग्रन्थकार को दोष दे डालते हैं कि यह उसकी अव्युत्पत्ति का सूचक है। वस्तुतः यहाँ पाटदोष ही होगा। विद्वान् ग्रन्थकृत् को दोषी ठहराना उपयुक्त नहीं।

यहाँ पर विभाव के द्वारा प्रतिपादित ही उस (साधारणीभाव या नायिका) का सौन्दर्य प्रधानतया प्रतीत होता है। और उससे अनुगत 'केली', 'विभ्रम', 'भंगुर', 'नर्म' आदि पदों की महिमा से (भौंहों का नर्मकर्म अर्थात् कटाक्षादि-रूप) अनुभाव, वर्ग तथा 'भङ्गी', 'क्रम', 'विकार' आदि शब्दों की शक्ति से (विकार आदि) व्यभिचारीवर्गों की प्रतीति होती है। इसलिए यहाँ रसास्वादरूप शृङ्गार-रस में 'अस्फुटत्व' दोष की शङ्का नहीं करनी चाहिए। (किसी एक की प्रधानता में रस स्फुट नहीं होगा, दोष होगा ? को परिहृत करने के लिए ग्रन्थकार ने बताया कि यहाँ प्रधानतया विभावों की ही प्रतीति होती है, किन्तु अनुभाव-व्यभिचारी उसके अनुगामी हैं। तथापि रस-प्रतीति में कोई बाधा नहीं होती। अतः 'अस्फुटत्व' आदि दोष की शङ्का नहीं करनी चाहिए।

अनुभावप्राधान्यं यथा शुद्धसारस्वतप्रवाहपवित्रसकलवाङ्मयमहार्णवपूर्णभावसम्पादनात् द्विजराजस्येन्दुराजस्य—

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनीलोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः॥ इति॥

अत्र 'विश्रम्य' इति 'बहुश' इति 'प्रतिदिनम्' इति च पदसमर्पितो व्यभिचारिणः, 'कृष्ण' इत्यादिपदार्पितश्च विभावो, गुणत्वेन प्रतिभासते। विश्रान्तिलक्षणस्तम्भविलोकनवैचित्र्यगात्रतानवतारतम्यपुलकवैवर्ण्यप्रभृतिस्त्वनुभावसञ्चयः प्रधानतया।

व्यभिचारिणान्तु प्राधान्यं तद्विभावानुभावप्राधान्यकृतम्। तत्राद्यं यथा महाकवेः कालिदासस्य—

अनुभाव की प्रधानता जैसे (द्विजराज-इन्दुराज चन्द्रमा के समान) द्विजश्रेष्ठ इन्दुराज (की निम्न रचना में) सरस्वती के शुद्ध प्रवाह से पवित्र सम्पूर्ण वाङ्मय-रूप महासमुद्र की पूर्णता को सम्पादित करने से (है)—

'बार-बार के अवलोकन में थककर (भी) जो (गोपियों की) आँखें स्थिर नहीं हो पातीं और जो कटे हुए कमलिनी के नाल की भाँति अङ्ग निरन्तर क्षीण-से होते जा रहे हैं तथा कपोलों पर जो दूब के अंकुर के समान गहरी पीतिमा है (तो) कृष्ण के युवा होने पर यौवनवती (गोप) वनिताओं की यही रचना-विधि है।'

यहाँ 'विश्रम्य', 'बहुश', 'प्रतिदिनम्' इत्यादि पदों से समर्पित (श्रम आदि) व्यभिचारी-वर्ग तथा कृष्ण इत्यादि पदों से व्यक्त विभाव गौणरूप (अप्रधान-भाव) से प्रतीत होते हैं किन्तु, विश्रान्तिरूप स्तम्भ, विलोकन की चारुता, शरीर की कृशता का तरतम भाव, पुलक तथा विवर्णता आदि अनुभाव-वर्ग प्रधानरूप से (प्रतीत होते हैं)। तात्पर्य यह है कि, पूरे श्लोक के पढ़ने पर गोप-वनिताओं में होने वाली स्तम्भ आदि क्रियाओं की चारुता ही प्रधानतया पाठक को आनन्दित करती है, व्यभिचारी तथा विभाव पर उसकी दृष्टि उतनी नहीं रहती। (अतः वे अप्रधानतया प्रतिभासित होते हैं)।

अब आगे व्यभिचारियों की प्रधानता बताते हैं—'व्यभिचारिणाम्' इत्यादि से।

व्यभिचारियों की प्रधानता तो उनके विभाव एवं अनुभाव-वर्ग की प्रधानता से सम्पादित होती है। उसमें से प्रथम (विभाव प्राधान्य से व्यभिचारिभाव की प्रधानता) जैसे महाकवि कालिदास के (इस श्लोक में है)—

जलक्रीड़ा का वर्णन है। 'चञ्चल नेत्रों वाली नायिका प्रियतम के ऊपर फेंकने के लिए बार-बार अञ्जलि में गृहीत तथा अपने नेत्रों के प्रतिबिम्ब से युक्त जल को, (उसमें पड़ते हुए नेत्रों के प्रतिबिम्ब को मीन समझकर) मछली की शङ्का से डरकर छोड़ देती थी।'

आत्तमात्तमधिकान्तमुक्षितुं कातरा शफरशङ्किनी जहौ ।
अञ्जलौ जलमधीरलोचना लोचनप्रतिशरीरलाञ्छितम् ॥

इत्यत्र सुकुमारमुग्धप्रमदाजनभूषणभूतस्य व्यभिचारिवर्गस्य वितर्कत्रासशङ्कादेः प्राधान्यं, तद्विभावानां प्राधान्यात् सौन्दर्यातिशयकृतम् । 'आत्तं आत्तं' इत्याद्यर्पितानुभाववर्गस्तु तदनुयायी । एवं द्वयप्राधान्ये चोदाहार्यम् । किन्तु समप्राधान्य एव रसास्वादस्योत्कर्षः ।

तच्च प्रबन्ध एव भवति । वस्तुतस्तु दशरूपक एव । यदाह वामनः—'सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः' (काव्यालङ्कारसूत्र १-३-३०) । 'तद्विचित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्' (काव्यालङ्कारसूत्र १-३-३१) इति ।

यहाँ पर सुकुमार एवं भोली कामिनी-लोक के लिए भूषणरूप वितर्क, त्रास, शङ्का आदि व्यभिचारि-वर्ग की प्रधानता है । (यह प्रधानता) उनके (अपने) विभावों (कामिनी आदि) की प्रधानता से अतिशय सौन्दर्य को उत्पन्न करती है । 'आत्तं-आत्तं' इत्यादि पदों से समर्पित अनुभाव-समूह तो उस (व्यभिचारि-वर्ग) का अनुगामी (अप्रधान) है । (जिस प्रकार अब तक तीन उदाहरणों के द्वारा पृथक्-पृथक् रूप से विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों की प्रधानता में साधारणीभाव दिखाया गया) उसी प्रकार दो-दो की प्रधानता में भी उदाहरण दिया जा सकता है । किन्तु (इनकी) तुल्य प्रधानता में ही रसास्वाद का उत्कर्ष होता है ।

और वह समप्राधान्य-कृत उत्कर्ष प्रबन्ध में ही होता है । (और प्रबन्ध में ही क्या) वस्तुतः तो (वह) दशरूपक (रूपक के दश भेदों) में ही होता है । जैसा कि आचार्य, वामन ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति' के प्रथम अधिकरण, तृतीय अध्याय, तीसवें सूत्र में कहा है—प्रबन्धों (सन्दर्भों) में दश प्रकार—'नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः । व्यायोग—समवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा दश ॥'—के रूपक ही उत्तम होते हैं । (और वहीं फिर अगले सूत्र एकतीस में वामन ने कहा है) 'वह दशरूपक चित्रपट की भाँति अद्भुत होता है (क्योंकि वह) समस्त (भाषादिरूप) विशेषताओं से युक्त होता है ।' वामन ने प्रकृत सूत्र की वृत्ति में सूत्र को स्पष्ट किया है—'तद्दशरूपकं हि यस्माच्चित्रं चित्रपटवत् । विशेषाणां साकल्यात् ।' और विशेष की व्याख्या में 'कामधेनु' टीकाकार ने लिखा है—'विशेषाणां भाषाभेदादिरूपाणां कथाख्यायिकादीनां ...... ।'

और उस (नाटक आदि दशरूपक) के (समान शब्दार्थस्वरूप) रूप के समर्पण द्वारा भाषा, वेष, प्रवृत्ति तथा औचित्य आदि की रचना से प्रबन्ध-काव्य में रसास्वाद का उत्कर्ष पाया जाता है । (इसी बात को वामन ने वहीं सूत्र बत्तीस की व्याख्या में इस बात को स्पष्ट कहा है—'ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः ।' सू० १।३।३२ । 'ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां क्लृप्तिः कल्पनमिति । दशरूपकस्यैव हीदं सर्वं विलसितम् । यच्च कथाख्यायिके महाकाव्यमिति ।') और उस (प्रबन्ध-काव्य) का उपजीवित

तद्रूपसमर्पणया तु प्रबन्धे भाषावेषप्रवृत्त्यौचित्यादिकल्पनात्। तदुपजीवनेन मुक्तके। तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य 'ईदृगत्र वक्तास्मिन्नवसरे' इत्यादिवहुतरं पीठबन्धं रूपं विदधते। ते न ये काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिभिः सहृदयास्तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति।

अत एव तेषां काव्यमेव प्रीतिव्युत्पत्तिकृत्, अनपेक्षितनाट्यानामपि। तेषामपि तु नाट्ये 'निपतिताः स्फुरिताः शशिरश्मयः' इति न्यायेन सुतरां निर्मलीकरणम्। अहृदयानां च तदेव नैर्मल्याधायि। यत्र पतिता गीतवाद्यगणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति नित्योपकरणात्।[1]

होने के कारण मुक्तक (काव्यों) में भी रसास्वाद पाया जाता है। और उसमें सहृदय जन उचित पूर्वापर सम्बन्ध की परिकल्पना करके 'इस अवसर पर यहाँ इस प्रकार का वक्ता है' इत्यादि अनेक प्रकार रचना के आधारभूत रूपों का निर्माण कर लेते हैं। इसलिए जो सहृदय हैं, उनको (मुक्तक आदि में) सीमिति भी विभाव आदि के उन्मीलन में पूर्वजन्म के पुण्य तथा काव्य आदि के पुनः-पुनः अनुशीलन के बल से स्पष्ट एवं साक्षात्कारतुल्य काव्यार्थ (रस) का स्फुरण होता है।

इसलिए नाट्य की अपेक्षा न रखने वाले के लिए भी काव्य ही प्रीति एवं व्युत्पत्तिकारक होता है। (आचार्य भामह ने प्रीति, कीर्ति एवं व्युत्पत्ति (कलाओं में विचक्षणता) को ही काव्य का प्रयोजन माना है—'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्।' और वामन ने भी यही माना है—'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्। काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति १।१।५॥' और प्रीति रस ही है। अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में यही माना है—'प्रीत्यात्मा च रसः।' किन्तु '(किसी चमकदार वस्तु पर) पड़ी (तथा और भी) चमकती हुई चन्द्रमा की किरणों (की भाँति)' इस सिद्धान्त से नाट्य और भी अधिक निर्मलता पैदा करने वाला होता है (अर्थात् जैसे चमकीली वस्तु पर पड़ी हुई चन्द्रमा की किरणें उसे और भी दीप्तिमान् कर देती हैं, स्वयं भी अधिक प्रभावती हो जाती हैं उसी प्रकार सहृदय यद्यपि काव्य से ही आनन्द की प्राप्ति कर लेते हैं किन्तु, नाट्य से उनकी सहृदयता में और भी निखार आ जाता है और रस की उत्कृष्ट अनुभूति होती है)। और सामान्य-जनों (अहृदयों) के लिए तो वही (नाट्य ही) निर्मलता को उत्पन्न करने वाला होता है। (सामान्य जन काव्य से रसानुभूति नहीं कर पाता; क्योंकि शब्दार्थ का समुचित बोध उससे सम्भव नहीं होता किन्तु, नाट्य के माध्यम वह अभिनय में सरलतापूर्वक रसास्वाद कर लेता है। अतः उनके लिए नाटक आदि ही निर्मलता के आधायक होते हैं।) जहाँ (नाटक में) प्रयोग में आने वाले गीत, वाद्य, गणिका आदि व्यसन के लिए प्रतीत नहीं होते; क्योंकि उनका तो नित्य ही लोक में प्रयोग देखा जाता है (प्रत्युत् वे निर्मलता के ही उत्पादक होते हैं)।

१. पाठान्तर—नाट्योपकरणात्।

'तच्च नटो ध्यायिनामिव ध्यानपदम्। नहि 'अत्र अयमेव सिन्दूरादिमयो वासुदेवः। इतिस्मरणीयप्रतिपत्तिः, अपि तु तदुपायद्वारेणातिस्फुटीभूसङ्कल्पगोचरो देवताविशेषो ध्यायिनां फलकृत्। तद्वन्नाट्यप्रक्रियाद्वारादितातिस्फुटाध्यवसायविषयीकृतो नियतदेशकालाद्यस्पृष्टविधिस्थानोयोऽर्थो 'अत इदं फलम्' इति व्युत्पत्तिं वितरति। यत्र दृश्येऽभिनयादौ चित्तवृत्त्यादौ वा न बाधकोदयः। सम्यग्ज्ञानभूतं ह्येवेदं पूर्णम्। तेन राम इत्येव प्रतीतिः, न त्वयं न रामो, अन्योऽयमिति। स्फुटीकरिष्यते चैतदग्रतः।

(ऊपर प्रतिपादित कर चुके हैं कि, सहृदय तो मुक्तक आदि से भी रसानुभूति कर लेता है, किन्तु सामान्य-जन के लिए नाट्य ही निर्मलता का कारक होता है। आगे मूर्ति का उदाहरण रखकर इसे और भी स्पष्ट करते हैं। कृष्ण आदि की मूर्ति यद्यपि वास्तविक नहीं होती। ध्यान करने वाले को वहाँ वास्तव में प्रतीति होती नहीं, फिर भी फलप्राप्ति तो होती ही है। उसी प्रकार यद्यपि नट वास्तव में राम नहीं है, न उसमें रामादि की वास्तविक प्रतीति ही होती है तथापि तन्मयीभाव के कारण उससे रसास्वाद तथा 'रामादिवद्वर्तितव्यम्' आदि की शिक्षा तो मिलती ही है।) उस (रूपक) में ध्यानियों के (ध्यानास्पद कृष्णादि की मूर्ति की) भाँति नट ही ध्यानास्पद होता है। उस (सिन्दूरादि से लिप्त वासुदेव आदि की मूर्ति) में ध्यानी को 'सिन्दूरादिमय यह (मूर्ति) ही वासुदेव है' इस प्रकार की अपने स्मरणीय (इष्टदेव) की प्रतीति नहीं होती, अपितु उस (मूर्तिरूप) उपाय के द्वारा अत्यन्त स्पष्ट हुआ तथा सङ्कल्पगोचरीभूत देवताविशेष ही फल प्रदान करने वाला होता है। उसी प्रकार नाट्यप्रक्रिया द्वारा प्रस्तुत अत्यन्त स्पष्ट, निश्चयबुद्धि का विषयभूत, नियत देश-काल आदि से अस्पष्ट विधिरूप (अज्ञात अर्थ के प्रख्यापक वेद-भाग को विधि कहते हैं—'अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः।' प्रमाणान्तर से अज्ञात वस्तु का विधान करती है। जैसे—अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' वाक्य अज्ञात अर्थ, 'स्वर्ग की प्राप्ति कैसे हो' का विधान करता है कि, 'स्वर्ग-प्राप्ति के लिए अग्निहोत्र के भजन से स्वर्ग को प्राप्त करे) अर्थ को 'इसका यह फल है' इस प्रकार की व्युत्पत्ति प्रदान करता है। जहाँ दर्शनीय अभिनय आदि अथवा तद्भावित चित्तवृत्ति आदि में कोई बाधक नहीं होता। सम्यग्ज्ञानभूत यह पूर्ण (आनन्दरूप) ही है। इसलिए '(नट में) राम है' इस प्रकार की ही प्रतीति होती है न कि, यह (नट) राम नहीं है, यह अन्य ही है (इस प्रकार की प्रतीति होती है)। और इसे आगे स्पष्ट करेंगे।

(नाट्यशास्त्र षष्ठाध्याय में रससूत्र पर अभिनव-व्याख्यान का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।)

परिशिष्ट—१

को दृष्टान्तः ।[१] अत्राह—यथाहि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः[२] तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः । यथाहि—गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरौषधिभिश्च षाडवादयो[३] रसा निर्वर्त्यन्ते तथा[४] नानाभावोपगता[५] अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति ।[६] अत्राह[७]—रस इति कः पदार्थः ।[८] उच्यते—आस्वाद्यत्वात् । कथमास्वाद्यते[९] रसः । यथा नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसनास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षा[१०]दींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनय[११]व्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः[१२] हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति । तस्मान्नाट्य रसाः[१३] इत्यभिव्याख्याताः ।[१४] अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः—

यथा बहुद्रव्ययुतै[१५] र्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं[१६] भक्तविदो जनाः ॥३२॥
भावाभिनयसम्बद्धा[१७]न्स्थायि भावांस्तथा बुधाः ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्य[१८]रसाः स्मृताः ॥३३॥

तत्रालौकिकोऽयमर्थो न दृष्टान्तमन्तरेण हृदयङ्गमो भवेदित्याशयेनाह—को दृष्टान्त इति । बहूनां संयोगादपूर्वो रस उत्पद्यमानः क्व दृष्ट इत्यर्थः ।

अत्र प्रश्ने भाष्येण प्रतिवचनमाह—यथेत्यादिना आप्नुवन्तीत्यनेन । व्यञ्जनमुपसेचनद्रव्यम् । तच्च नानान्तप्रम (नानातिक्तम) धुर चुक्रादि[१९] भेदादधिकाञ्जिकादि । ओषधयश्चिञ्चा गोधूमदलहरिद्रादयः । द्रव्यं गुडादि । एषां पाककमेण सम्यग्योजनारूपात्कुशलसंपाद्यात्संयोगात् । षाडवादय इति लोकप्रसिद्धेभ्यः परस्परविविक्तेभ्यो मधुरतिक्ताम्ललवणकटुकषायेभ्यो मिश्रेभ्यश्च विलक्षणः षाडवशब्दवाच्यः । तत्प्रधाना बहुतरा

---

१. अ. यथा च गुडादिद्रव्यैरौषधिविशैश्च स्वाहादयो रसा निष्पद्यन्ते एवंनानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति । म. को दृष्टान्त इतिचेदुच्यते । यथानाना । २. त. त्तिर्भवति । यथाहि । ३. म. षड्रसा । त. षाड्वादयो रसा । अ. स्वाहादयो रसा । ४. म. एवं नाना । ५. म. न. पहिना । ६. अ. म. वन्ति । ७. न. अ. म. ऋषय ऊचुः । त. इदं नास्ति । ८. म. अत्रोच्यते । ९. प. त. ब. भास्वाद्यो । अ. स्वाद्यत इति । यथा नाना । म. किमिति चेदत्रोच्यते । यथाहि नाना । १०. अ. हर्षश्चाधि । ११. त. तथा भावा । १२. अ. म. त. ब. प्रेक्षकास्तस्मान्नाट्यरसा इति व्याख्याताः । १३. अ. रस । रस इत्य । १४. अ. ब. अपि चात्रा । १५. म. युक्तैः । त. गुणैः । १६. म. भुक्तं भुक्त । अ. भक्तं भुक्त । १७. म. संयुक्ताज स्थायिभावांस्ततो । १८. अ. नाठ्ये रसाः । १९. म. भ. चुका ।

रसनयोग्याः क्रियन्ते । तथैव नानाभूतैर्विभावादिभिरुपसमीपं प्रत्यक्षकल्पतां गता लोकापेक्षया ये स्थायिनो भावास्ते रस्यमानतैकजीविनं[1] रसत्वं तत्र प्रतिपद्यन्ते ।

एतदुक्तं भवति—पाकरूपया सम्यग्योजनया तावदलौकिको रसो जायते । तत्र च प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यञ्जकत्वमिति व्यञ्जनं विभावस्थानीयम् । चिञ्चाहरिद्राद्यनुभावप्रायम् । द्रव्याणि गुडा (दीनि) तदीयचुक्रादि रसविलक्षणमधुरादि योगाद्व्यभिचारि कल्पम् । स्वात्मनि तदुपजीवनेन च परत्र च स्वरससङ्क्रमणया वैचित्र्याधायकत्वात् । अत्रतु स्थायिकल्पस्तन्मिश्रणासमयभावी रसविशेषो विभावकल्पव्यञ्जनजनितो मन्तव्यः । सहि लौकिकः । अयन्तु कुशलैकनिर्वर्त्यस्तद्विदां रसनीयो भवति । तेनाद (दनीय) स्येत्यध्याहारो न युक्तः । यथाहि दार्ष्टान्तिकसूत्रे स्थायिग्रहणं शल्यकल्पमिति त्रयमेवोपात्तं तथा दृष्टान्तेऽपि त्रयस्यैवोपादानं युक्तम् ।

एवं सूत्रं व्याख्याय लक्षणपदं परीक्षितुमाक्षिपति-रस इति क इत्यादिना । मधुरादौ पारदे विषये सारे जलसंस्कारेऽभिनिवेशे क्वाथे देहधातौर्नि (तौ नि) र्यासे वाऽयं प्रसिद्धो न त्वन्यत्र । तेन रस इति पदस्य श्रृङ्गारादिषु प्रवर्तितस्य कोऽर्थः । किं प्रवृत्तिनिमित्तं कथ्यते स्वाभिधेयनियमाय शब्देन यदि वा तत्प्रयोक्तृप्रतिपत्तृभिरिति । अर्थः प्रवृत्तिनिमित्तम् ' अत्रोत्तरम् । आस्वाद्यत्वात् । प्रवृत्तिहेतोर्यतः प्रश्नस्तेनोत्तरं हेतुविभक्त्यैव दत्तम् । तेन क्रियाप्रवृत्तिनिमित्तमस्येत्युक्तं भवति ।

यस्तु भङ्क्त्वा व्याचष्टे—रस इति योऽयं (कोऽयं) शब्दः । तत्रोत्तरम् पदार्थः । उच्यत इति । तस्यानेनेत्यध्याहारं विना प्रकृतपदार्थवाचकोऽयं शब्द इति (न) तात्पर्यकल्पनं विना नातीव सङ्गतमुत्तरम् । प्रश्नमन्तरेण चास्वाद्यत्वादित्यल्पपदप्रायमित्यास्तामेतत् ।

अथ प्रवृत्तिनिमित्तं व्याक्षिपति—कथमास्वाद्यत इति । आस्वादनं हि रसनेन्द्रियजज्ञानं प्रसिद्धमिति भावः । अत्रोपचरितक्रियाश्रयेणोत्तरमाह—यथा नानेत्यादिना । यथा तथा शब्दाभ्यां सादृश्यमत्रोपचारे निमित्तमिति दर्शयति । तत्र भोग्यस्य भोक्तुः फलस्य च साम्यं दर्शयति । यथाहि व्यञ्जनसंस्कृतेऽन्ने आस्वाद्यता । एकाग्रमनसि च भोक्तर्यास्वादयितृता । अन्यचित्तस्य गुञ्जानस्याप्यास्वादभिमानाभावात् । प्रहर्षाप्यायजीवनपुष्टिबलारोग्याणां चास्वादफलता । तथाभिनयव्यञ्जिते (तेऽपि) चिन्त्या । स्थायिशब्दव्यपदेश्ये रसे आस्वाद्यता । एकाग्रे च सामाजिके तन्मयीभूत आस्वादयितृता । हर्षप्रधानानां धर्मादिव्युत्पत्तिवैदग्ध्यादीनामास्वादफलत्वमिति कर्मकर्तृफलसादृश्याद्विभावादिजः प्रतीतिविशेषो रसनाक्रियेति व्यपदिष्ट इति तात्पर्यम् । येन[2] सुमनसो भुञ्जाना हर्षादींश्च यान्ति तेन रसनास्वादयन्तीत्यनेन शब्देन ।[3] अभितः सर्वत्र । विशेषेण अन्यभोक्तृविलक्षणतया । आ समन्तात् । ख्याताः प्रसिद्धाः । यथाचैते तथा प्रेक्षका अपि । तेन तेऽपि स्थायिनः आस्वादयन्तीति आभिमुख्येन सादृश्ये व्याख्याता अस्माभिर्व्यवहृता । अत्रोपसंहारः । तस्मान्नाट्यरसाः ।

---

१. म वितम् । २. म. यन्ना यदन्नम् । ३. म. शेषेणामिहितः ।

अन्येत्वादि शब्देन शोकादीनामत्र सङ्ग्रहः। सच न युक्तः। सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यं न शोकादिफलम्। तथात्वे निमित्ताभावात्तत्परिहारप्रसङ्गाच्चेति मन्यमाना हर्षांश्चाधिगच्छन्तीति पठन्ति।

एवं ग्रन्थयोजनायां स्पष्टायां यत् कैश्चिदत्र चोदितं दृष्टान्ते आत्मा रसना मनश्चेति त्रयम्। प्रकृते तु रसनैवेति।[1] परिहृतं चात्मन एवात्र स्थानान्तरसङ्क्रान्तस्य मनःस्थानीयता। मनसश्च रसनास्थानीयतेति। तत्सर्वं वृथा नाट्यमात्रम्। उपचारबीजस्य सादृश्यस्यात्र प्राधान्येन प्रतिपादयिषितत्वादित्यास्ताम्।

एवं रसत्वं केन तेषामिति यत्प्रश्नितं तत्प्रति समाहितम्। अत्रेति भाष्यो अनुवंशे भवौ शिष्याचारपरम्परासु वर्तमानौ श्लोकाख्यौ वृत्तिविशेषौ सूत्रार्थसंक्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ भवतः। तौ पठति यथेत्यादि। मधुरादिभेदाद्बहूनि द्रव्याणि गुडादीनि। बहुभिरिति दधिकाञ्जिकादिभिः। अनेन विभावभेदं रसभेदे हेतुत्वेन सूचयति। भुञ्जाना आस्वादयन्तीति। रसनाव्यापाराद्भोजनादधिको यो मानसो व्यापारः स एवास्वादनमिति दर्शयति।

एतदुक्तं भवति—न रसनाव्यापार आस्वादनम्। अपि तु मानस एव। स चाभाविकतनोऽस्ति। केवलं लोके रसनाव्यापारान्तरभावी स प्रसिद्ध इत्युपचार इह दर्शित इति। शुद्ध तत्स्वरूपज्ञानस्वभावा अत्र भावा विभावव्यभिचारिणः। अभिनया अनुभावा एव। इयं (दं) पृथग्वचनं प्राधान्यात्। तैर्यैः सम्यग्बद्धा हृदयसंवादक्रमेण तन्मयीभावापन्नप्रमातृभूम्यभेदमनुसम्प्राप्ता अचिन्त्याः स्थायिनः आसमन्तात्साधारणीभावेन निर्विघ्नप्रतिपत्तिवशात्। मनसा इन्द्रियान्तरविघ्नसंभावनाशून्येन स्वादयन्ति स्वपरविवेकशून्यस्वादचमत्कारपरवशतया लौकिकात्प्रत्ययादुपार्जनादि विघ्नबहुलाद्योगिप्रत्ययाच्च विषयास्वादशून्यतापरुषाद्विलक्षणाकारसुखदुःखादिविचित्रवासनानुवेद्योपनतहृद्यतातिशयसंविच्चर्वणात्मना भुञ्जते। बुधा इति पूर्वो (र्णो) पयोगो लौकिकानां प्रत्यक्षादीनामत्र दर्शितः॥

एतदुपसंहरति—तस्मादिति। नाट्यात्समुदायरूपाद्रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसाः। रससमुदायो हि नाट्यम्। (न) नाट्य एव च रसाः काव्येऽपि नाट्यायमानएव रसः। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः।

यदाहुः काव्यकौतुके—

"प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वाद सम्भवः।" इति।

"वर्णनोत्कलिता भोग प्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।
उद्यान-कान्ता-चन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत्स्फुटाः॥" इति।

अन्ये तु काव्येऽपि गुणालंकारसौन्दर्यातिशयकृतं रसचर्वणमाहुः। वयं तु ब्रूमः—काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव। तत्र ह्युचितैर्भाषावृत्तिकाकुनैपथ्यप्रभृतिभिः पूर्यते रसवत्ता। सर्गबन्धादौ हि नायिकाया अपि संस्कृतैवोक्तिरित्यादि बहुतरमनुचितं

१. भ. रसनेति।

अत्राह—किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसाना-मिति।[१] केषाञ्चिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृत्तिरिति। तन्ना[२] कस्मात्। दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो[३] भावाना-मभिनिर्वृत्तिरिति। भवन्ति।[४] चात्र श्लोकाः—

केवलं शक्तिरहितत्वाद्वयावर्ण्यते। तावतीव हृद्यमिति न्यायेनानौचित्यं न प्रतिहारि (न प्रतिजहाति)। तत एवोच्यते 'सन्दर्भेषु दशरूपकम्' (वा॰ का॰) इति। तेन तदंश (दङ्ग) सन्ध्यादिसङ्घटनमुद्धृत्य सर्गबन्धादि यावन्मुक्तं (क्तकम्)। यत्तु दशरूपकं तस्य योऽर्थस्तदेव नाट्यम्। यद्वक्ष्यते 'नाट्यस्यैषा तनूः' (ना॰ शा॰ १४.२) इति। तस्य हृदयसंवादतारतम्यापेक्षया श्रोतृप्रतिपत्तृस्फुरणं स्फुटास्फुटत्वेनाति विचित्रम्। तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एव संसारोचितक्रोधमोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति। तेषां तथाविध दशरूपकाकर्णनसमये साधारण रसनात्मकचर्वणग्राह्यो रससञ्जयो नाट्यलक्षणः स्फुट एव। ये त्वतथाभूतास्तेषां प्रत्यक्षोचिततथाविधचर्वणालाभाय नटादि-प्रक्रिया। स्वगतक्रोधशोकादिसङ्कटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विर-चिता। सर्वानुग्राहकं हि शास्त्रमिति न्यायात्। तेन नाट्य एव रसा न लोक इत्यर्थः। काव्यञ्च नाट्यमेव।

अत एव च नटे न रसः। कुत्र तर्हि। विस्मृतिशीलो न बोध्यते। उक्तं हि देश-कालप्रमातृभेदानि (नि) यन्त्रितो रस इति। केयमाशङ्का। नटे तर्हि किम्। आस्वादनोपायः। अत एव च पात्रमित्युच्यते। नहि पात्रे मद्यास्वादः। अपितु तदुपा-यकः। तेन प्रमुखमात्रे नटोपयोग इत्यलम्।

चित्रपुस्ताद्यपि च नाट्यस्यैवार्थभागाभिष्यन्दो यथा सर्गबन्धादिशब्दभागाभिष्यन्दः। एतच्च 'योऽर्थो हृदयसंवादी।' (ना॰ शा॰ ७.१०) इत्यत्र वितत्य वक्ष्यामः।

अन्ये त्वभिनयादिसामग्रीमयं बहिर्दृश्यमानं नाट्यं नटधर्मः कर्मरूपमित्याशयेन नाट्याद्रसा इत्याहुः। स्मृता इति सम्प्रयाविच्छेदं दर्शयति। ये तु रत्याद्यनुकरणरूपं रसमाहुः अथ चोदयन्ति शोकः कथं सुख हेतुरिति। परिहरन्ति च अस्ति कोऽपि नाट्य-गतानां विशेष इति। तत्र चोद्यं तावदसत्। शोको हि प्रतीयमानः किं स्वात्मनि प्रत्येतु-र्दुःखं वितनोतीति नियमः। शत्रुदुःखे प्रहर्षात्। अन्यत्र च मध्यस्थत्वात्। उत्तरं तु भावानां वक्तुस्वभावमात्रेणे (त्रते) ति न किञ्चिदत्र तत्त्वम्। अस्मन्मते संवेदनमेवानन्द-घनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशङ्का। केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासना व्यापारः। तदुद्बोधने चाभिनयादि व्यापारः। (३३)

---

१. मू. मिति। उच्यते। केषाञ्चिन्मतम्। तत्र रसानाम्। केषाञ्चिन्मतम्। २. त. एतन्न। म. तत्कस्मात्। ब. तन्ना दृश्यते। ३. त. ब. अ. न रसेभ्यो भावानामिति। ४. त. भवन्ति वंश्ये श्लोकाः। भ. तत्र श्लोकाः। अ. ब. भवतश्चात्र श्लोकौ।

नानाभिनयसम्बद्धा[१]न्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥३४॥
नानाद्रव्यै बहुविधै व्यञ्जनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह ॥३५॥
न भावहीनोऽस्ति रसो न[२] भावो रस वर्जितः।
परस्परकृतासिद्धिस्तयोरभिन[३] ये भवेत् ॥३६॥
व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथाऽन्नं[४] स्वादुतां नयेत्।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥३७॥

यदेतदुक्तं रसतत्त्वं तदेवो[५]पशोधयितुमुपक्रमते—अत्राहेत्यादिना चोद्यमुखेन। नर्तकगतेभ्यो रसेभ्यो भावाः सामाजिके।[६] यथा करुणाच्छोकः। ततो विभावाद्युपचित सामाजिके करुण इति रसाद्भावो भावाद्रस इति सन्देहः। अत एव परस्परम[पि][७] जन्म-कालभेदेनेति तृतीयः पक्षः। यदि वा नट एव राम एव[८] चापूर्व भावः। तत उपचये रसः।[९] ततोऽप्यपचये भाव इत्येवं पक्षत्रयोदयम्। इदं चासत्। एवम्भूतस्य रसस्वरूपस्य निराकृतत्वात्।

श्रीशङ्कुकस्त्वाह—अनुकर्तरि रसनास्वादय[१०] तोऽनुकार्ये भावप्रतीतिः प्रयोगे। लोके प्रकृतिं (तिः) रसं निष्पादयतीति। द्वितीयपक्षो नाट्याचार्याभिप्रेतशिक्षानुसारेण। अत एव च तृतीयोऽपि संभवति। एतदप्यसत्। नहि सामाजिकोऽनुकार्यानुकर्तृविभागमवैति। दूषितः स्वा (तश्चा) नुकरणवादः।

तस्मादित्थमेतत्—किं रसेभ्यो भावा उत विपर्ययः आहो अन्योन्यजनकतेति त्रयः प्रश्नाः। आहो शब्दो भिन्नक्रमः। विभावादिभ्यस्तावद्रसनिष्पत्तिरुक्ता। स एव द्वितीयः पक्षोऽभ्युपगत पूर्वमे (यतः पूर्वम्। ए) तच्च कथम्। नहि लोके विभावानुभावादयः केचन भवन्ति। हेतुकार्यावस्थामात्रत्वाल्लोके तेषाम्। अथ त एव रसनोपयोगित्वे विभावादिरूपतां प्रतिपद्यन्ते। तर्हि रसप्रसादाद्भावा विभावादयः। अथोच्यते विभावादिप्रसाद्रसो यथोक्तं प्राक्। रसप्रसादाच्च विभावादिरूपत्वम्। तर्हि परस्पराश्रयत्वम्। इतरेतराश्रयाणि च न प्रकल्पन्त इत्याक्षेपः।

अत्र सिद्धान्तमाह—दृश्यते हीति। प्रमदादयः प्रतीताः सन्तो रसास्वादं विदधते यथोक्तं प्राक्। अतो न रसेभ्यो भावाः। भावशब्दार्थपर्यालोचनया चैतदेवोपपन्नमिति श्लोकेनाह—नानाभिनयैः सम्यग्बद्धान्[११] हृदयं गतान् भावयन्ति सम्पादयन्ति रसास्तस्माद्भावाः।

---

१. त. सम्बन्धा। म. सम्बन्धात्। अ. सम्बद्धा। २. त. भावोवारसवर्जितः। म. न रसो भाववर्जितः। ३. त. अ. नयो। ४. अ. गाद्यथान्नमुपपादयेत्। म. गाद्यथान्नस्वादुता भवेत्। ५. भ. देवमु। ६. म. कैः। ७. भ. रमिव। ८. म. वा पूर्वम्। ९. भ. प्युप.। १०. भ. भ येते। ११. भ. भ. ग्बन्ध।

यथा बीजाद्भवेद्वृक्षोवृक्षा[1]त्पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो[2] भावा व्यवस्थिताः[3] ॥३८॥

नन्वेतद्भावशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्। न तत्प्रकृतं किञ्चिदुक्तमित्याशङ्क्यप्रकृते योजयितुमाह—नानाद्रव्यैरिति। व्यज्यत इति व्यञ्जनञ्चानुपानादि रसोऽत्राभिप्रेतः। बहुविधैरिति व्यञ्जनस्योपलक्षणम्। अभिनयैस्त्विस्य वा विशेषणम्।

एवं स्थितपक्षमुपसंहरति—न भावहीनोऽस्ति रस इति। अत्रचोद्यवादी स्वाशयमुन्मीलयति—न भावो रसवर्जित इति। लोके हि न कश्चिद्विभावादिव्यवहार इतिभावः। अथोत्तरमाह—परस्परकृतासिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्। अभिनये साक्षात्कारे सम्पन्ने तदुपयोगितया विभावादि व्यपदेश इत्यतो या परस्परकृता सिद्धिः सा भद्रं[4] भवेदिति संभाव्यते। एवम्भूतमितरेतराश्रयजं न दूषणमित्यर्थः।

अत्रैव दृष्टान्तमाह—व्यञ्जनौषधिसंयोग इति। व्यञ्जनौषधिसंयोगोऽन्नं च कर्तृ यथा परस्परमन्योन्यं कर्मभूतं स्वादुतां नयेत् तथा भावा रसाश्चान्योन्यं भावयन्ति। भावा रसान्भावयन्ति निष्पादयन्ति। रसास्तु भावान्भावयन्ति। भावान्कुर्वन्ति। भावादि व्यपदेश्यान्कुर्वन्तीत्यर्थः।

एतदुक्तं भवति—एकत्रैकदा क्रियायामन्योन्याश्रयत्वं दोषो न तु क्रियाभेदे। यथा व्यञ्जनादिसंयोगेनान्नस्याह्लादि[5] रसवत्ता क्रियते। अनेन चाश्रयरूपेण[6] सता व्यञ्जनसुखयोग्यता क्रियते। एवं भावै रस्यमानता। रसैश्च विभावादि व्यपदेशता कारणादीनाम्। यथा पटापेक्षया तन्तवः पटकारणमिति व्यपदेश्याः। तन्त्वपेक्षया पटः कार्यः। न चेत (रेत) राश्रयं (तत्वं) तथा प्रकृतेऽपीति। (३७)

ननु यदि भावेभ्यो रसास्तर्हि कथमुक्तं, 'नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते। तेन पूर्वं त एवो॰श्याः' इत्याश॰क्याह—यथेत्यादिना। बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितं तथा रसाः। तन्मूलादि (हि) प्रीतिपूर्विकाव्युत्पत्तिरिति ततरे (त एव) च व्याख्यानार्हाः। कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नटव्यापारः। सैव च संवित्परमार्थतो रसः। सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धारबुद्ध्या विभावादिप्रतीतिरिति प्रयोजने (नं) नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च। तदेवं मूलं बीजस्थानीयात्कः (यः क) विगतो रसः। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। तत एवोक्तं "शृङ्गारी चेत्कविः"। (ध्वन्यालो ३-४२) इत्यानन्दवर्धनाचार्येण। ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयाः सामाजिकरसास्वादः तेन रसमयमेव विश्वम्।

अत्र च विज्ञानवादो द्विधाभिधानं स्फोटतत्त्वं सत्कार्यवादएकत्वदर्शनमित्यादि

---

१. अ. वृक्षाद्बीजं भवेद्यथा। त. वृक्षात्पुष्पफलं तथा। २. म. तेषु। अ. तेषाम्। ब. ततो। ३. एवमेते स्थायिनो भावाः रससंज्ञाः प्रत्यगवगन्तव्याः, इति 'त' पुस्तके इतः परमधिकं दृश्यते। ४. भवति। ५. म. स्याम्लादि। ६. म. न वा।

तदेषां[1] रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतानि[2] दर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः। तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा–शृङ्गारो रौद्रो[3] वीरो बीभत्स इति। अत्र[4]—

शृङ्गाराद्धि[5] भवेद्धास्यो रौद्राच्च[6] करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥३९॥
शृङ्गारानुकृतिर्या तु सहास्यस्तु[7] प्रकीर्तितः।
रौद्रस्यैव[8] च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः ॥४०॥

च द्रष्टव्यम्। वयन्तु प्रकृतानुपयोगि श्रुत लवसन्दर्शन मिथ्या प्रयास संश्रयमशिक्षित पूर्विण इत्यास्ताम्।

अन्येतु बीजादिव भावाद्रस वृक्षस्ततोऽप्यभिनय कुसुमसुन्दरात्फलमिव भावः प्रतीत्यामुज्यत इति व्याचक्षते। तैः प्रकृत विरुद्धं सर्वे व्याख्यातम्। एवं हि भावस्यैवोपकृत पर्यवसान वर्तित्वंभुक्तं स्यादित्यास्तां चैतत्। एवं त्रयोऽपि पक्षाः कथञ्चिदुपगता अभिप्राय वैचित्र्येणेति तात्पर्यम्।

एवमुद्दिष्टानां विभक्तानां च रसानां सामान्यलक्षणं परीक्षापरिशुद्धमभिधाय तदनुवादपूर्वकं विशेषलक्षणं वक्तुं पीठबन्धं दर्शयति—तदेषामित्यादिना। यतः सामान्यलक्षणमेतेषां कृतं तस्माद्विशेषलक्षणांशपूरकाण्युत्पत्त्यादीनि व्याख्यास्यामः। तत्रोत्पत्तिरुत्पादकानामुत्पाद्यानां च विशेषलक्षणम्! अन्योन्यतो व्यवच्छेदात्। उत्पादकानामप्येतदुत्पादकत्वमुत्पादकान्तराद्वैलक्षण्यमुत्पाद्य कृतम्। एवमुत्पाद्यानामुत्पादककृतमिति परस्परलक्षणत्वम्। वर्णः श्वेतादि तु (स्तु) सुस्पष्टं वि (शेष) लक्षणादि। एवं निदर्शनं तु शृङ्गारो नामेत्यादिना विभावादिशेषसंयोगः। उत्पत्तिलक्षणा (णे) ह्यन्योन्याश्रयशङ्का वर्णदेवतयोस्त्वागमानुविद्धत्वमिति स्फुटं निश्चयदर्शनोपायत्वमुत्पत्त्यादीनां न संभवति। विभावादि विशेषसंयोगात्तु तद्वैलक्षण्यान्निदर्शनमित्युक्तम्। (३८)

तत्रोत्पत्तिं तावदाह—तेषामित्यादिना। तेषां रसानामुत्पत्तौ हेतवः सूचकाश्चत्वारः। रसानामुत्पाद्योत्पादनप्रकारो यावान् सम्भवति स चतुर्भिरेव सूचित इति यावत्। तथाहि— तदाभासत्वेन तदनुकार रूपतया हेतुत्वं शृङ्गारेण सूचितम्। यतो विभावाभासादनुभावाभासाद्व्यभिचार्याभासाद्रत्याभासे प्रतीते चर्वणाभाससारः शृङ्गाराभासः कामना। अभिलाषमात्ररूपा हि रतिरत्र व्यभिचारिभावः। न स्थायी। तस्य स तु स्थायिकल्पत्वेनाभाति। तद्वशाद्विभावाद्याभासता। अतश्च स्थाय्याभासत्वं रतेः। यतो रावणस्य सीता द्विष्टा मय्युपेक्षिका वेति हृदयं नैव स्पृशतीति। तत्स्पर्शो ह्यभिमानोऽ-

---

१. त. एषान्त्विदानीमनुभावविभावव्यभिचारिसंयुक्तानामुत्पत्ति। २. अ. देवता। ३. न. म. शृङ्गारो वीरो रौद्रो। ४. अ. तत्र। त. ब. नास्ति। ५. ऽ. शृङ्गारात्तु। अ. शृङ्गाराच्च। ६. न. रौद्रात्तु। ७. अ. प. म. हास्य इति संज्ञितः। ८. म. द्रस्यापि च। त. द्रस्य चैवो।

स्या[1] (स्य) विलीयत एव। 'मदीयमनुरक्ता' इति[2] तु निश्चयो ह्यनुपयोगी। कामजमोहसारत्वात्। शुक्तौ रूप्याभासवत्। यद्यपि—

"दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिं
(चेतः कालकलामपि प्रसहते नावस्थितिं तां विना।
एतैराकुलितस्य विक्षतरते रङ्गैरनङ्गातुरैः
सम्पद्येत कथं तदाप्तिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम्॥")

इत्यादौ रावणवाक्ये[3] तावति रत्याभासतैव। न तु हासः स्फुरति। तथापि सीताविभावल (विल) क्षणं रावणवचः (चः)। प्रकृति (त) विरुद्धश्च (श्च) चिन्तादैन्यमोहादिकव्यभिचारिगणम (णो ऽ) श्रुपातपरिदेवितादि चानुभावजातमनौचित्यात्तदाभासरूपं सद्धास्य विभावरूपम्। तद्वक्ष्यते—विकृतपरिवेषालङ्कारेत्यादि। एवं तदाभासतया (तायाः) प्रकारः शृङ्गारेण सूचितम् तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्वं सर्वेषु मन्तव्यम्। अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हि हास्यविभावत्वम्। तच्चा (त्रा) नौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ सम्भाव्यते। तेन व्यभिचारिणामप्येषैव वार्ता। अत एव संवित् सतत्त्वनिपुणैश्चिरन्तनै रसभावतदाभासव्यवहारस्तत्र तत्र क्रियते। अमोक्षहेतावपि तदाभासतायां शान्ताभासो हास्य एव प्रहसनरूपस्य (रूपः)। अनौ (स्वानौ) चित्यत्यागः सर्वपुरुषार्थेषु व्युत्पाद्यः। एतच्च लक्षणे वक्ष्यते तत्र हास्याभासे यथाऽस्मत् पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य—

"लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एष
सम्मन्यते यदि किमङ्ग वदाम नाम।
यत्त्वत्र हासमुखत (र) त्वममुष्य तेन
पार्श्वौ पपीऽमिह को न विजाहसीति।"[4]

एवं यो यस्य बन्धुस्तच्छोके करुणोऽपि हास्य एवेति सर्वत्र योज्यम्। एतदेवोदाहरणम्। एवमन्यत्तेनानुमेयमिति मुनिना यथाग्रहणं कृतम्।

यदीय फलानन्तरं द्वितीयरसोऽवश्यंभावी तस्योदाहरणं रौद्रः। रौद्रस्य हि फलं वधबन्धादि। तद्विभावकेनावश्यं करुणेन भाव्यम्। यथा वेणीसंहारे—

"अद्यैवावां रणमुपगतौ तातमम्बां च दृष्ट्वा
घ्रातस्ताभ्यां शिरसि विनतोऽहं च दुश्शासनश्च।
तस्मिन्बाले प्रसभमरिणा प्रापिते तामवस्थां
पित्रोः पार्श्वे व्यपगतघृणः किं नु वक्ष्यामि गत्वा॥"

एवं रौद्रानन्तरं नियमेन भयानकः। शृङ्गारानन्तरं नियमेन करुणे (णः) व्याप्रियते त्वसौ तज्जन्मनि यथा तापसवत्सराजे वासवदत्ता दाहाद्वत्सराजस्य। ननु तत्रा (त्र)

---

१. म. भ. स्यापि ली। २. म. भ. क्तेतिमनिश्च यो ह्यन्वपयोनिकामृज्जुमोह। ३. म. भ. काव्ये।
४. म. केनापि जहासीति।

रतेरवि (तेर्वि) च्छेदाद्बन्धुकृतः शोकः । नैतत्) करुणोत्पत्तिका केऽपि हि क्रोधस्य विच्छेद एव ।

यदाह 'निर्वाण वैरि दहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः ।' (वेणी० १-९) इति । न च बन्धुमा (तामा) त्रं हेतुः । एवं हि सति—

('उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशु कान्ता)
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।
(क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्वितेन दहनेन न वीक्षिताऽसि ॥")

(तापसवत्सराजे १-२) इत्यादौ ते प्राणभूतं (पदं) निरुपयोगतां गमिता स्यात् । रतिप्रलापेषु च शृङ्गार एव करुणस्य जीवितम्—

हृदयेवससीति (मत्प्रिये) यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
उपचारपदंनचेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥' (कुमार ४.९)

इत्याद्युक्तिषु ।

एवं वीराद्भयानकोत्पत्तिः । यथा 'कर्णस्यात्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत् फाल्गुनात्' (वेणी ५.५)

यत्त्वत्र श्रीशङ्कुकेनोक्तम्—नात्रोत्साहस्य व्यापार इति । तदसत् । एवं हि निर्विषय एवोत्साहः स्यात् । कर्तव्याननुसन्धानात् । युद्धवीरे च परपराजयजनितः प्रतापापरपर्यायः शत्रुहृदयदाहदायी तद्वनितादिषु भयानक एव जीवितम् । यथा—

'स पातु वो यस्य हतावशेषास्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु ।
लावण्ययुक्तेष्वपि[1] वित्रसन्ति दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु ॥'

नियमेन तु भवतीति वक्तव्यम् । नियमश्च कारेणोक्तौ रौद्रादित्यानन्तर्यसूचकपञ्चम्यनन्तरं प्रयुक्तेन ।

यस्तु रसो रसान्तरं फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवर्तते तस्योदाहरणं वीरः । महापुरुषोत्साहो हि जगद्विस्मयफलाभिसन्धानेनैव ।

यथा—'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत' (महावीर २.८) इत्यादि । रौद्रस्तु परविनाशनं फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवर्तते न करुणमिति शे (विशे) षः । विदूषकहासस्तु नायिकाहासं फलत्वेनाभिसन्धत्त इति मन्तव्यम् ।

यस्तु रसतुल्यविभावत्वान्नियमेन रसान्तरं हि परमाक्षिपति तस्योदाहरणं बीभत्सः । तस्य हि ये विभावा[2] रुधिरप्रभृतयस्तेऽवश्यं भयहेतवः । तथा तद्वयभिचारिणो मरणमोहापस्माराद्याः । तदनुभावास्तु मुखविकूणनादयः ।

यथा वेणीसंहारे—

'संस्तभ्यन्तां निहतदुश्शासनपीतशेषशोणितपी (तस्नपि) तबीभत्सवृकोदरदर्शनवैक्लब्यस्खलितप्रहरणानि रणाद्विद्रवन्ति बलानि' इति वेणी० (४)

वीरस्यापि[1] च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
बीभत्सदर्शनं यच्च[2] ज्ञेयः स तु भयानकः॥ ४१॥
अथ वर्णाः—श्यामो[3] भवति शृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः।
कपोतः[4] करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः॥ ४२॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः॥४३॥

एवं तदाभासतद्द्वा (सद्वा) रेण रसान्तराक्षेपकत्वे शृङ्गार उदाहरणम्। तेन शृङ्गारानुकृतिरित्यत्र तु शब्दो वीप्सायाम्। द्वितीयो हेतौ। तेनैवं योजना—या अनुकृतिः सहास्यो यतः प्रकीर्तितः एवं विभावको हास्य इति शेषः। तद्यथा शृङ्गार आद्यः (रः स्यात्)। शृङ्गारवत्य (वद) नुकृतिरित्यर्थः।

यत्त्वत्र शृङ्गारादद्भुतोत्तेराशङ्का 'दृशः पृथुतरीकृता' (रत्ना० २-१५) इत्यादौ (तत्) निर्मूलमेव। उदयने[5] हि शृङ्गारः। ब्रह्मणि विस्मयसम्भावना। सा च न तात्कालिकत्वेन नोत्तरकालिकत्वेन किन्तु पूर्वतरमेवेति न किञ्चिदेतत्।

परस्पर (रम्परा) फलत्वेन रसान्तराक्षेपे[6] रौद्र उदाहरणम्। रौद्रस्य यत्कर्म फलात्मकं वधादि चकारात्तस्य यत्कर्म फलरूपं स एव करुणः। एवकारेणात्यन्तव्यवहितां परम्परां पराकरोति। (४०)

समनन्तरफलत्वेन रसान्तराक्षेपे[7] उदाहरणं त्वस्य योगः बीरस्य (वीरस्यापीति—यो वीरस्य) सम्यङ्निकटं यत्फलं सोऽद्भुतः परितः[8] समन्ताद्या कीर्तिः यशःप्रतापरूपा ततो हेतोः। अपिशब्दाच्छृङ्गारोपि वीरस्यानन्तरं फलं द्रौपदीस्वयंवरादौ। सहभावेन रसान्तराक्षेपे बीभत्स उदाहरणम्।

यदेव बीभत्सस्य दर्शनं विभावादिरूपं स एव भयानकः। तद्विभावत्वादुपचारस्य। सहभावप्रतीतः (तिः) फलम्। तमेव च शब्दो द्योतयति। तुः पूर्वतो[9] विशेषमाह। अयमेव चाक्षेपः प्रकाशत्वात्संभाव्यते न त्वधिक इति। सा त्वस्यापि सन्न नोक्तः। ये चात्रोत्पत्तिहेतव उक्तास्ते यथा स्वयं पुरुषार्थचतुष्क व्याप्ताः। तद्धि तत्सौन्दर्यातिशयजनरूपम्। रञ्जका भा (हा) सादयस्तदनुगामित्वेन रूपकेषु निबन्धनीयाः।

एतावन्त एव च रसा इत्युक्तं पूर्वम्। तेनानन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्ध्यै तावतां प्रयोज्यत्वमिति यद्भट्टलोल्लटेन निरूपितं तदवलेपेनापरामृश्येत्यलम्। (४१)

वर्णाभिधानं पूजादौ ध्यान उपयोगि। मुखरागेऽपीत्यन्ये। स्वच्छपीतौ शमाद्भुताविति शान्तवादिनां पाठः। तत्तद्रससिद्धौ सा सा देवता पूज्येति देवतानिरूपणम्। विष्णुः कामदेवः। प्रमथा भगवतो गणाः क्रीडापराः। रुद्रस्त्रैलोक्यसंहारकर्ता। अत एव चोद-

---

१. अ. वीरस्य चापि। २ न. त. यत्र भवेत्सतु। अ. यत्तु भवेत्सतु।
३. म. त. श्यामो भवेतु। ४. भ. त. रक्तो रौद्रो रसः प्रोक्तः कपोतः करुणस्तथा।
५. म. तथा न त। ६. भ. येन हि। ७: रसापेक्षया। ८. भ. पूर्णपक्षमाह। ९. म. पनापरा।

अथ दैवतानि[1]

श्रृङ्गारो विष्णुदेवत्यो[2] हास्यः प्रमथदैवतः।
रौद्रो रुद्राधिदैवत्यः[3] करुणो यम दैवतः॥ ४४ ॥
बीभत्सस्य महाकालः[4] कालदेवो भयानकः।
वीरो[5] महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः॥ ४५ ॥

एवमेतेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतान्यभिव्याख्यातानि। इदानीमनुभावविभावव्यभिचारिसंयुक्तानां[6] लक्षण[7]निदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः। स्थायिभावांश्च[8] रसत्वमुपनेष्यामः।

यतीति निय (चयमपतीतिध) मेन वधादिके सम्पादिते करुणः। महाकालोऽधिदैवतमिति शेषः। स हि तद्विभावं कङ्कालं श्मशानादि सेवते। महेन्द्रस्त्रैलोक्यराजः। ब्रह्मा अचिन्त्याद्भुतस्रष्टा। (४५)

'बुद्ध शान्तेऽब्जजोऽद्भुते' इति शान्तवादिनः केचित्पठन्ति बुद्धो जिनः परोपकारैकपरः प्रबुद्धो वा। तत्रोत्पत्तिलक्षणमन्योन्याश्रयत्वान्न निश्चयकारि। वर्णदैवतात्मकमप्यागमसिद्धत्वादित्येकप्रघट्टकेनोपसंहरत्येवमित्यादिना। एतेषामिति सर्वेषामित्यर्थः।

अथ विशेषलक्षणानि वक्तुमासूत्रयतीदानीमित्या दिना। विशेषलक्षणं सजातीयाद्व्यवच्छेदकम्। न विजातीयाद्व्यवच्छेदं विना सजातीयत्वम्। न चासौ सामान्यलक्षणं विनेतितत्पृष्ठे[9] विशेषलक्षणमिति दर्शयितुं सामान्यलक्षणमनुवदत्यनुभावेत्यादिना। लक्षणानि च तानि निदर्शनानि च विशेषात्मकानि। तेन प्रत्येकं लक्षणविशेषा उच्यन्त इत्यर्थः। विशेषलक्षणानि च सामान्यलक्षणस्य निदर्शनानि। येषु सामान्यलक्षणं निर्दिश्यते योज्यते उदाह्रियते च तद्विना तस्योदाहर्तुम शक्यत्वात्। चकारो लोकोत्तरतयाऽऽदरं सूचयति। ये स्थायिनो भावा लोके चित्तवृत्त्यात्मानो बहुप्रकारपरिश्रमप्रसवनिबन्धनकर्तव्यता प्रबन्धाभिधायिनस्तानपि नाम रसत्वं विश्रान्त्येकायतनत्वेनोपदिशा नेष्यामः। विभावान् यथायोगमुपहरद्भिः कविनटैर्हि ते रसतां नीयन्ते। यदाह—

"या व्यापारवती रसान्रसयितुं कचित्कवीनांनवा (दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा-च वैपश्चिती। तेद्वेअप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं श्रान्ता नैव च लब्धिमब्धिश यनं त्वद्भक्तितुल्यं रसम्॥ इति (ध्वन्या० ३.४३)

नटानां तु तदुपजीवितत्वान्न नवा दृक्पश्यति न रसयत्यतो नवेति। तस्माद्रसनोपयोगि विभावाद्यौचित्यमस्माभिरूपदिशद्भिः स्थायिनो रसतां नीता भवन्तीत्यनेन लक्षणरूपस्य फलं दर्शयिति।

---

१. प. ब. त. अथाधिदैवतानि। २. न. ब. अ. देवस्तु। ३. अ. ब. देवस्तु। म. त. देवश्च। ४. प. कामदेवो। ५. म. माहेन्द्रदैवत्योअद्भुतो। ६. त. एष्वेषां त्विदानीं विभावानु। म. इदानी विभावानु। ७. अ. लक्षणानि सप्रयोजनानि व्याख्यास्यामः। त. लक्षणानि दर्शनान्यभिव्या.। म. लक्षणदर्शना। ८. ब. स्थायिभावाश्च रसानाभुनुअभिस्यामइति। ९. भ. म. ननु पृष्टे।

परिशिष्ट—२

॥ अथ शृङ्गाररसप्रकरणम् ॥

तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः। उज्ज्वल वेषात्मकः।[१] यत्किञ्चिल्लोके[२] शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं[३] वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते। यस्तावदुज्ज्वलवेषः[४] स शृङ्गारवानित्युच्यते। यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति तथैवैषां[५] रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि। एवमेव आचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो[६] रसः। स च[७] स्त्रीपुरुषहेतुक[८] उत्तम युवप्रकृतिः।

तत्र कामस्य फलत्वादशेषहृदयसंवादित्वाच्च तत्प्रधानं शृङ्गारं लक्षयति-तत्रेत्यादिनोज्ज्वलवेषात्म इत्यन्तेन सूत्रेण। तत्रेति क्रमनिर्धारणे। एवं सतीत्यर्थे वा। एतत्सूत्र भाष्येण व्यक्तम्। यल्लक्ष्यपदं नामेति। व्याचष्टे यत्किञ्चिदित्यादिना। हस्तपृष्ठतादि (हारादि) मण्डितः शृङ्गारवान्[९]। तेन शुचिमेध्याद्युपमीयते। तेनोज्ज्वलवेषात्मके शृङ्गारशब्दः। न चातिप्रसङ्गः। आप्तोपदेशस्य नियामकत्वादिति चिरन्तनाः। तदनुपपन्नम्। उपमानोपमेययोर्विशेषविषयविभागा नव भासात्तथा।

तस्मादयमत्रार्थः। रतिरेवास्वाद्यमानो मुख्यः शृङ्गारः। रतिमास्वादयद्भिस्तद्बहुमानपरः शृङ्गारीत्युच्यते। यस्तु सज्जनादि प (दिः अप) र एव तद्व्यसनिता तुव्यसनी। सा रसना स्वाददशालोके[१०] भवन्त्यपि न चिरमवतिष्ठते। तदास्वादे चोपयोगि यथा स्वविभावादि तथा शास्त्र (स्त्रा) निषिद्धमजुगुप्सितं संस्फुटं (यत् स्फुटं) मनोहरं च तदुपचाराच्छृङ्गारशब्दवाच्यम्। तदाह—उपमीयते तदुपयोगितया तथा मीयते लक्ष्यतइति यावत्।

क्व य (त) थेति दर्शयति यस्तावदिति। तावद्ग्रहणेनावधारणवाचिना शृङ्गारवाच्यो मुख्योऽर्थस्तत्र नास्तीति दर्शयति—स शृङ्गारवानिति। तदनु (दु) ज्ज्वलवेषे शृङ्गारशब्द उपचरित इत्याह। ननु मुख्यतया रत्यास्वादे शृङ्गारशब्दस्य प्रवृत्तौ किं निबन्धनमित्याशङ्क्याह—यथा चेत्यादि। गोत्रं पितृसन्तानादि। कुलं मातृसन्तानं सूचयति।

वेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रसः। त. हृद्यज्ज्वलवेषस्वभावः। २. म. यथा। यत्किञ्चि। ३. दं भवति तत्सर्वम्। ४. यस्तावद्धृवोज्जक वेषः। म. त. वेषात्मकः। ब. वेषवान् स ५. च. ब. तथैषाम्। ६. उ. ग. वेषात्मकः शृङ्गारो। ७. द. अ. स्त्रीपुंस। ८. प. तिः। ९. रस्तेन सूचीमध्या। १०. म. भ. दशको।

आचारो व्यवहारः । तत उत्पन्नानि लोके प्ररूढानि । मूले तु न । आद्याप्तोद्देशेन नामकरणलक्षणसमयेन सिद्धानि । पुंसामिति मनुष्यजातेर्नराणां नारीणां च । नराणां हि पितृसन्तानानुसारि नाम विष्णुशर्मेत्यादि । स्त्रीणां तु मातृवंशानुसारि कनकप्रभा चन्द्रप्रभेति । एवं रसादीनां तच्छास्त्रवेदिव्यवहारतो निरूढानि प्राक्तन ब्रह्माद्याप्तप्रणीतानि नामानि ।

तदेवोपसंहरति—एवं शृङ्गारो रसः । स आचारव्यवहाराल्लोकेऽपि सिद्धः । कुतो हेतोः । हृद्यादिवेषात्मकत्वात् । एतदुक्तं भवति—प्रतिशास्त्रसमयानुसारिणोऽपि शब्दास्तवृद्धव्यवहारपरम्परया लोके प्रसिद्धा उपचारतोऽन्यत्रापि व्यवह्रियन्ते । यथा—'साङ्ख्यपुरुषोऽयं न किञ्चित्करोति । पूर्वरङ्गोऽत्रतेन मे विरचितः । अत्र महत (त्ता) न्योन्यमस्य' इति । तद्वदमी शृङ्गारादिशब्दा इहैव विषये मुख्याः । लोके तु सांख्यपुरुषादिशब्दवत् ।

यस्तु शृङ्गारशब्दस्यान्मीयेन[1] (स्य मत्वर्थीयेन) व्युत्पत्तिमाह तस्य रूपमिति विस्मृतम् । आरकन् हि प्रत्ययोऽत्र[2] आरब्धः । (शृङ्गाराभ्यामारकन्, वार्तिक ५-२-१२१) बृन्दारक इति यथा । अत एवोणादिषु निपातितोऽयं शब्दः । (शृङ्गारभृङ्गारौ । उ० सू०) यस्तु पृथग्भावेन गोत्रादिनामानि व्याचष्टे व्यावर्त्याभावात् तत्र दीक्षितानि । तस्य प्रकृते न किञ्चिदियमु (दप्यु) पयुज्यते । न च गोत्राचारोत्पन्ने नामनि नियामक आप्तोद्देशो इत्यास्तामेतत् ।

अत्र रतिः स्थायीति सूत्रभागं भाष्येण स्पष्टयति—स चेत्यादिना । स्त्रीशब्देन परस्पराभिलाषसंयोगलक्षणया लौकिक्या. 'अस्येयं स्त्री' इति या (धिया) । तेनाभिलाषमात्र सारायाः कामावस्थानुवर्तिन्या व्यभिचारिरूपाणीति[3] या (पानीताया)[4] विलक्षणैव इयं स्थायिरूपा प्रारम्भादिफलप्राप्तिपर्यन्ता व्यापिनी परिपूर्णसुखैकफला रतिश (रु) क्ता भवति हेतुरस्य ।

कविर्हि लौकिकरतिवासनानुविद्धस्तथा विभावादीनाहरति नाट्यं चा (नटश्चा) नुभावान् यथा रत्यास्वादः शृङ्गारो भवतीति । आस्वादयितुरपि प्राक्कक्ष्यायां रत्यवगम-[5] उपयोगीत्युक्तः प्राक् ।

एतदुक्तं प्राक्—रतिक्रीडासार्धं च (रतिः क्रीडा । सा च) परमार्थतः कामिनोरेव । तत्रैव सुखस्य धाराविश्रान्तेः । अपरस्य तु माल्यादिविषयसौन्दर्यस्य[6] कविना कृतस्य संकल्पत्वात्संवेदनद्वितयान्योन्यनिमज्जनात्मकमीलनाख्यो हि परमो भोगः । संविद एव प्रधानत्वात् । अन्यत्र तु जडस्य भोग्यत्वात् ।

अतएवाह—'श्वासायासविडम्बनैव वपुषि प्राणाः पुनर्जानकी' इति । अत एव यत्कैश्चिदचोद्यत—रतेराधारभेदेन भेदात्कथमेको रस इति तदनभिज्ञतया । एकैव ह्यसौ तावती रतिः । यत्रान्योन्यसंविदा एकवियोगो न भवति । अत एवोत्तमयुवप्रकृतिः । उत्तमश्चोत्तमाचोत्तमौ । एवं युवानौ । तत्रोत्तमयुवशब्देन तत्संविदुच्यते । न तु कायः ।

---

१. म. शब्दान्मीयेन व्युत्पत्ति । भ. शब्दभन्वन्मीयेन । २. म. भ. आरकांगिप्रत्ययोऽद आरब्धः ।
३. म. भ. रतिरूपाणीति । ४. भ. म. वापि विल । ५. म. रत्य । ६. म. तद्विना ।

तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतु माल्यानुलेपना'लङ्कारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपव'नगमनानुभवनश्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।[३]

चैतन्यस्यैव हि परमार्थतः उत्तमयुवत्वं विशेषः। स (सा) चावस्थावान् तत्र तत्र (स्था यत्र यत्र) व्यवहारस्य भूतत्वात् तत्प्रकृतिः। सा संविदास्वादयोग्यत्वात् शृङ्गाररसो भवतीति। अनुत्तमत्वे तु (न) दार्ढ्यमयुतत्त्वे चेति न सारतिसंवित्। वियोगस्य संभावनात्। अवियुक्तसंवित्प्राणस्तु शृङ्गारः।
यथा—

वारिसिणि॰ चरिहि अदि हिल॰ गणहुकं हविएक्क।
हुठिभुलजलमरणि मअलहुतीतिह विप॰ सि ॥" इति[४]

व्याख्याताः (तः) परस्परं जीवितसर्वस्वाभिमानरूपाः (पः)। वेषयति व्यापयति चित्तवृत्तिमन्यत्र ज्ञापनया संक्रमयतीति वेषो विभावानुभावात्मा। वेषयति (न्ति) व्याप्नुवन्ति स्थायिनमिति व्यभिचारिणः। तेचोज्ज्वला उत्कृष्टा यस्मिंस्तथाभूत आत्मा यस्येति।

सूत्रे संक्षिप्य यद्विभावादि निरूपितं तद्विभागेन व्याख्येयमित्याशयेन शृङ्गारस्यावस्थाभेदमाह—तस्य द्वे इत्यादिना। अधिष्ठाने अवस्थे इत्यर्थः। अधिष्ठीयतेऽवस्थात्र (त्रा) शृङ्गाररूपेण। तेन शृङ्गारस्येमौ भेदौ। गोत्वस्येव शाबलेयत्वबाहुलेयत्वे। अपि तु तद्दशाद्वयेऽप्यनुयायिनी या रतिरास्वादनात्मिका[५] तस्याश्चास्वाद्यमानं रूपं शृङ्गारः। यदाहु :—

"(एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
या कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपि विरहहासिनस्तेऽप्यभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति ॥ (यइति मेघ॰ २·४५)

अतएव सम्भोगे विप्रलम्भसम्भवनाभीरुत्वं विप्रलम्भेऽपि सम्भोगमनो[६] राज्या (रथा) नुवेध इति इयच्छृङ्गारस्य वपुः। अभिलाषेर्ष्याप्रवासादिदशास्त्वत्रैवान्तर्भूताः। सत्यामास्थाबन्धात्मिकायां रतौ (तेन ?) सम्भोगशृङ्गारइत्यादि व्यपदेशोऽभोगेऽप्युपचारात्। अत एतद्दशाद्वयमेलन एव सत्यतः सातिशयचमत्कारः। यथा—

"एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहम् ॥" (अमरुक–२३)

१. ड० माल्यालेपन। २. ड. भोगवन। द. अ. उपवनभवनानुगमनश्रवणक्रीडालीः लाश्रयादिभि। ३. त. र्भावैः समुत्पद्यते। ४. अस्फुटेयं गाथा। ५. म. रास्थाबन्धा। ६. म. मध्यानु वे।

तत्र हीर्ष्याविप्रलम्भसम्भोगमेलनात्मिकैवैकप्राणीभूतोभयगतविभावानुभावव्यभिचारिकृता सातिशया[1] रसानुभूतिः। तेन यच्चोदितं श्रीशङ्कुकेन पुरूरवसउन्मादे वत्सराजस्य तापसत्वे चानुज्ज्वलवेषत्वं विप्रलम्भश्रृङ्गारेऽपि (इति) तदनवकाशमेव। भोगस्य रसत्वाभावात्। स्नानाद्यवस्थानमिव। यत्त्वत्रोत्तरं तावद्दत्तं स्थैर्यादुज्ज्वलवेषाभावेऽपि रतिमुत्तमा नविजहतीति तत्पक्षभाषितम्। प्रकृतचोद्यापरिहारात्।

नहि (नु) चोदितमनुज्ज्वलवेषे कथं श्रृङ्गार इति। तदेवास्तु चोद्यमिति चेत्—न वचनस्याति भारोऽस्ति। न तु मुनिनैवमुक्तं सत्युज्ज्वलवेषे श्रृङ्गार इति। अपि तु विपर्ययमित्यास्तामेतत्।

तत्रेति—द्वयोरवस्थयोर्मध्ये सम्भोगावस्था तावदुच्यते। तत्रेह वस्तुतः स्त्रीपुंसौ परस्परं विभावौ। तयोरुत्तमत्वे चोपयोगिनिश्रृत्त्वादीनि। उत्तमस्यावसरे रत्यभावात्। ऋतुर्वसन्तादिः। माल्यं कुसुमादिः। अनुलेपनं समालम्भनं यद्यत्कामस्योद्दीपकम्। अलङ्कारः कटकादि। इष्टजनः विदूषकादिः। एतदुभयमुत्तमत्वसूचकम्। यदाह—

'असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः।
अनाक्रम्य जगत्कृत्स्नं किं सन्ध्यां भजते रवि'॥ इति॥
(राज त० ४-४२२)

विषया गीतादयः। तदन्तर्भूतमपि माल्यादि प्राधान्यात्पृथगुक्तम्। वरमवनं हर्म्यादि। एतद्देश विशेषोपलक्षणम्। एषामुपभोगः। उपवनस्योद्यानस्यानुभवनं श्रवणं वाप (व) रत्रवनस्थस्यापि। एतत्सङ्कल्पादेरप्युपलक्षणम्। क्रीडाजलावगाहनादिका। लीलाजनस्यानुकृतिः। अनु (आदि) ग्रहणादन्यदपि हृद्यं हंसयुगलचित्र पुस्तकदर्शनादि। एतच्च समस्तमेव श्रृङ्गारविभावत्वेन मन्तव्यम्। यावान्कश्चिदयं विषयसम्भारो हृद्यतमस्तत्पूर्णतायां सत्यामुत्तमस्य रत्युदयः। अत एव रत्नावल्यां हर्म्यवर्णनमुद्यानगमनं कामदेव पूजा वसन्त इत्यादि सर्वमेवात्र संगृहीतं, 'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तम्' इत्यादिना। एवञ्च सर्व एव समुदितो विभाव इति काल्पनिकमालम्बनविभाव उद्दीपनविभाव इति। अत एव मुनिना नायं कश्चिद्विभाग उक्तः सूचितो वा। युक्तञ्चैतत् यथैकत्रैव रूपके उद्यानर्तुमाल्यादीनां सर्वेषां दर्शनादेको रसः स्यात्। विभावाभेदात्।

ननु प्रथमं (प्रमदामात्र[2]) दर्शने नोद्यानभवनादि संभवः। क एवमाह। ऐश्वर्यपूर्णस्य हि तावदात्मीयसमृद्धिसम्भारसंस्कारानव (राव) गमात् पूर्णतैव विभाववर्गस्य। तत्प्रधानं हि रूपकं तत्र तत्रोदाहरणम्। तेन पृथक्पृथगुदाहरण[3]दानमनुपपन्नम्।

या तु मुक्तकादौ पृथक्तया भावेऽपि रससंवित् तत्रोत्तमे च तापस (तावत) स्तत्रानुसन्धानाच्चमत्कार इति। इयांस्त्वनुत्तमादि[4]विषयेऽपरिपूर्णोद्दीपनत्वे न चमत्कारो दृश्यते—

यथाहि 'वर्धते[5] कुनाहि पाणी कुदिसिगमिहा अमहंह भुवं हन्दुधरीदुल्लए लंधा।'

१. म. म. रसविभक्तनिरतेननयोश्चो। २. म. भ. प्रमामात्र। ३. भ. रणमनु। ४. यस्त्वनु। ५. भ. वर्धते।

तस्य नयन[1]चातुर्य भ्रूक्षेपकटाक्षसञ्चार[2]ललितमधुराङ्गहार[3]वाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः[4] प्रयोक्तव्यः ।

इति तथा 'कमसूपे रङ्ग[5]' इत्यादि (१)। तत्रैकाङ्गस्य सौभाग्यस्य प्राधान्याचमत्कारोदय इति तात्पर्यम्। न तु तदभावकृता चमत्कृतिः।[6]

एतैः कविनोपनिबद्धैर्नटेन च साक्षात्कारकल्पतामानीतैः सम्यगित्य विघ्नभोगात्मक सम्भोगे रस उत्पद्यते झटित्येव। नहि गमनक्रियावत् पर्यन्ते रसना क्रिया निष्पद्यते। अपितु प्रथम एवावसरे। स च विभावसाक्षात्कारात्मक एव तस्यतु प्रथमकक्ष्यायामेव रसनागोचरत्वाभिमतस्य नयनचातुर्यादिभी रसै (सो) रसनाद्याभिमुख्यं नीयते। अतएव तेऽभिनया अनुभावाश्च आभिमुख्यनयनमनुभावनं च। तद्रसास्वादे समर्थाचरणमुद्दीपनम्। अत एव तदभावे विभावादिवर्णनप्रधानेऽपि काव्ये न चमत्कारः। रसनायास्तत्राभावात्। यथा विन्दो (कवीन्दो) र्महेन्दुराजस्य—

"उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः
सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवद्भिरवेक्ष्यताम्।
इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुर कञ्चुकः ॥" इति

एवमन्यत्राप्युपपद्यत इति तस्याभिनयादिर (दियो) जनीयम्। ननु विभावानां साधारण्यं कथम्। नियमेनैव[7] हि नाट्ये। इयांश्चात्र कविप्रयत्नसमर्प्यमाणः। तेन तद्भावाप्रयोजकधर्मोद्रेकप्रकाशविशिष्टसमबला[8]प्रमुख एव विशेष विश्रान्ततां याति। तथा 'हा प्रिये जनकराजपुत्रीति' इत्ययं श्रुत एव न रतिव्यतिरेकेण। भावान्तरविभावता शङ्क्या। 'एतेन कुणपं (पे) कामिनी' इत्यादि सम्भावनं प्रत्युक्तम्।

तत्र नयनचातुर्यादिना कान्तादृष्टिर्लक्ष्यते। यत्तु भ्रुवोर्मूलसमुत्क्षेपश्चतुरमिति (ना० शा० ८-४७) वक्ष्यते। सभ्रूक्षेपेण चोक्तम् 'विवर्तनं कटाक्ष' (ना० शा० ८-१००) इति ताराकर्म। एवं च योजनानयनानां चातुर्येण सभ्रूक्षेपेण कटाक्षेण च यद्यत्सञ्चारणं ललितं मन्थरं मधुरं नयनाभिरामं कृत्वा यान्यङ्गानां हरणानि स्वकर्तव्यकाले ललितानि सुकुमाराभिधेयानि मधुराणि च श्रवणसुखकराणि यानि। वाक्यानीत्युपाङ्गाभिनय आङ्गिको वाचिकश्च लक्षितः।

अत एव सामान्याभिनयाध्याय (ना० शा० अ० २२) वक्ष्यमाणाशेषचेष्टालङ्कारलाभ इति ललितमधुरशब्दौ तदर्थावित्यसत्। आदिग्रहणात्सात्त्विको मुखरागपुलकादिर्गृह्यते। अनुभावकत्वेन ताटस्थ्यपरिहारः। आभिमुख्यनयनेन स्वात्मैकविश्रान्तिशङ्का निरासः। एवमुत्तरत्रापि।

---

१. भ. नयनचातुरी। २. म. त. सञ्चरण। क. सञ्चारि। ३. न. हारैर्वाक्यादिभिः। ४. ऽ. म. भावैरभिनेतव्यः। ५. भ. एग। ६. भ. न तु तदा भवतु नामचमत्कृतिः। ७. म. भ. कथं नियममेवनहि। ८. भ. ष्टमद्बला।

'व्यभिचारिणश्चालस्यौग्र्यजुगुप्सा वर्ज्याः।[2] विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेद-ग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रा[3]स्वप्नविबोधव्याध्युन्मादापस्मारजाड्यमरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः।

एवं विभावसमय एव रसनीयस्यानुभावावसरेऽवस्थावेशवैरस्यास्पदस्य पश्चाद्व्यभिचारिणः स्वामेव रसनीयतां चित्रयन्तः सातिशयं पुष्यन्तीति पश्चात्ते निरूप्यन्ते व्यभिचारिणश्चास्येति।

व्यभिचारिणश्चास्येति। आलस्यौग्र्यजुगुप्सा वर्ज्यमाना येभ्यस्ते सर्वे व्यभिचारिणः। अस्येति दशाद्व्यमयस्येत्यर्थः। जुगुप्सास्थयिन्यपीह निषिद्धान्यायसिद्धा स्थायिनामपि व्यभिचारित्वमनुज्ञापयति। आलस्यादि च स्वाविभावप्रमा (म) दादि विषयमेव निषिद्धम्। तेन 'वपुरलसलसद्बाहुलक्ष्म्याः' (वेणी १-२) इति तथा 'कतिचिदहानि वपुरभूत् केवलमलसेक्षणं तस्याः (विक्र० ५-८)। इत्यादिनापि रूपकं मन्तव्यम्। एवं प्रयोगे काव्ये च विभावादीनां क्रम एव[4] समाश्रयणीयः। उत्पूर्वस्य (उद्धतस्य) लब्धप्रतिष्ठता। तथाभूतस्य परिवारसंघटनमिति हि प्रतीतिक्रमः।

ननु निर्वेदादयः सम्भोगे न व्यभिचारिण इत्याशङ्कयाह—विप्रलम्भकृतस्त्विति। तु शब्दो विशेषं द्योतयति।[5]

वाक्यैक्यवाक्यतमा दुःखप्राय निर्वेदादिमुक्त्वा[6] आलस्यादिव्यतिरिक्ताश्च सुखमया एव धृत्यादयोऽत्र व्यभिचारित्वेन[7] सम्भोग उपन्यस्ता इति प्रकटयति। परस्परांशोपजीवनं चात्रजीवितमिति दर्शयितुमस्येत्यनुद्भिन्नमेवोक्तम्। तत एव च भगवदनुग्रहपवित्रवाचा कालिदासेन रघुवंशे सम्भोगविप्रलम्भात्मकव्यामिश्ररसनासम्पत्तये प्रत्यनीकोद्देशेन रामभद्रस्य स्वकर्म पूर्वावस्थावर्णनेनादृतम्।

स्वप्ना (सुप्ता) न्तर्भूतोऽपि स्वप्नः प्राधान्यादुपात्तः 'क्वनीलकण्ठ व्रजसि'[8] इति (कुम० ५-५४)। 'सिविणवए विहु दो सु जपउ सुमराविउतरूठ संखु आसि पुअगलगाल विउति।' तथा 'आहूतोऽपि सहायैः'[9] इत्यादौ हि स एव प्राणः। सम्भोगदशायां तु विभावसान्निध्ये निद्राद्यभावाद्विबोधोऽपि व्यभिचारी। सम्भोगेऽपि रतिश्रमकृतनिद्रादि यद्यप्यस्ति तथाऽपि न रतौ तच्चित्रतामाधत्ते।[10] विप्रलम्भे तु तद्रतिभावना परस्परोऽत (नापरम् अत) एव निद्रादिबाहुल्यापेक्षं चेत्थमभिधानम्।

उन्मादापरस्मारव्याधीनां च नात्यन्तं कुत्सिता दशा सा काव्ये प्रयोगे च दर्शनीया।

---

१. व्यभिचारिणश्चालस्यस्य। २. च. अ. वर्जाः। त. वर्जम्। ३. त. न. निद्रासुप्तस्वप्न।
४. भ. एवं। ५. भ. यतीतियदिवाक्यै। ६. भ. मुक्तआल। ७. भ. त्वेन परम्परा।
८. त्रिभागशेषासु निशासुच क्षणं निमील्यनेत्रे सहसा व्यबुध्यत।
क्व नीलकण्ठ व्रजसीत्यलक्षवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना॥
९. आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्त निद्रोऽपि।
गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति॥
१०. भ. तामनिधत्ते।

कुत्सिता तु सम्भवेऽपि नेति वृद्धाः। वयं तु ब्रूमः। तादृश्यां दशायां स्वजीवितनिन्दात्मिकायां तद्देहोपभोगसाररत्यात्मकावस्थाबन्धोऽपि विच्छिद्यत एवेति सम्भव एव। मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिभयमत्र मन्तव्यम्। येन शोकाऽवस्थानमेव न लभते। यथा—

"तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्या सरय्वो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्यसद्यः।
पूर्वावस्थाधिकचतुरया सङ्गतः कान्तयाऽसौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु॥ (रघु० ८-९५)

अत एव सुकविना वाक्यभेदेनापि मरणमाख्यातम्। प्रतीतिविश्रान्तिस्थानत्वपरिहाराय तृतीयपादेन विभावानुसन्धानकंदर्शनम्। पुनर्ग्रहणेन स एवार्थः सुतरां द्योतितः।[१]

अन्ये त्वाहुः मरणमिति न जीवितवियोग उच्यते। अपि तु चैतन्यावस्थैव प्राणत्याग कर्तृतात्मिका।[२] या सम्बन्धाद्यवसरगता मन्तव्या व्यभिचारिभावेनेति सुलभोदाहरणमेतदिति। आदिशब्देन दैन्यमोहादयः। एते व्यभिचारिणोऽपि स्वानुभावैरनु भाविता विप्रलम्भमनुभावयन्ति। तस्मादनुभावैरित्युक्तम्।

अन्ये त्वादिशब्दं करुणवाचिनमाश्रित्य तदीयानुभावान्प्राधान्येन दर्शयन्ति। एकशेषेण द्वयमप्यन्ये। विप्रलम्भो विडम्बनं सिद्धम्। इह तूपचारात्तदीयं फलं विरहात्मकं गृह्यते। नहि परस्परं रतिमतोर्विडम्बनमस्ति। तेन विरहेण कृतः सुष्ठुतमां प्रो (पो) षित इति दर्शयन्मुनिरनेन विना श्रृङ्गारो न प्रयोगे न काव्ये हृद्यतामवलम्बत इति दर्शयति।

तथाहि—सम्भोगेऽप्येकघनशर्करास्वादस्थानीयता परिहाराय वैषम्यं गोत्रस्खलितस्पर्धामन्यद्वा कलहविप्रलम्भहेतुभूतं कवयो निबध्नन्ति। 'वामो हि कामः' (काम० शा० २-७-१) इति वात्स्यायनादिभिरभिहितम्। मुनिनापि वक्ष्यते 'यद्वामाभिनिवेशित्वम्' इति (ना० शा० २२-२०७)। एते च व्यभिचारिणो विद्युदुन्मेषनिमेषं युक्त्यैव स्थायिसूत्रमध्ये प्रकटयन्तस्तिरोदधतश्च तद्वैचित्र्यमावहन्ति। न तु स्थिराः। यद्यपि स्थाय्यपि नस्थिरः तथाऽपि संस्काररूपतया धारावाहिसजातीयप्रवाहरूपतया च स्थिर एव व्यभिचारिणस्तु नैवं क्षणमपि भवन्ति। संस्कारमपि स्वकं स्थायिसंस्कार एव प्रौढयन्ति। तथैव स्मरणाच्च।

तेन व्यभिचारिषु पृथक्पृथग्यैः कै (थग्यत्कै) श्चिदुदाहृतं तन्न तन्त्रन्यायानुपाति। तथाहि—धृतौ यदुदाहृतं; 'असम्भाव्यं देवात्' इत्यादि तत्रापि हर्षविस्मयगर्वमति[३] प्रभृतीनां च 'तेतिमाम्'[४] इति (!) वलितेत्यादि सूचितानां सम्भार एव 'किमपरं त्रैलोक्यम्'[५] इत्यादौ चावान्तरवाक्यारम्भे स्मृतिप्रभृतिभिः सर्वत्र भाव्यम्। अन्यथा हि धृत्येकवचनत्वे सर्वत्र श्लाकर्थे दृष्टिरेकैव चित्रन्यस्तेव भवेत्। 'अस्यास्सर्गविधौ' (विक्रमो० १-१०) इत्यत्राप्यव न्तरवाक्यसमाप्तौ धृतिहर्षविस्मयादयो भवन्त्येव अत एव विच्छिद्य विच्छिद्य वितर्कन्तारं समुदेति। न तु व्यभिचारी क्षणमप्यवतिष्ठते। चलं हि गुणवृत्त-

१. भ. चोदितः। २. म. कर्तृकात्मिका। ३. यगप्र। ४. भ. नेतितमाम्। ५. म. भ. क्यादिभि।

अत्राह—यद्ययं रतिप्रभवः शृङ्गारः कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा[1] भवन्ति। अत्रोच्यते-[2]पूर्वमेवाभिहितं सम्भोगविप्रलम्भकृतः शृङ्गार इति।[3] वैशिकशास्त्रकारैश्च[4] दशावस्थोऽभिहितः। ताश्च [5]सामान्याभिनये वक्ष्यामः।

'करुणस्तु [6]शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो निरपेक्षभावः। औत्सुक्यचिन्ता समुत्थः[8] सापेक्षभावो[9] विप्रलम्भ कृतः।

मिति हि तत्र भवन्तः। अत एव प्रयोगवैचित्र्यम्। अन्यथाऽवैचित्र्यात्स एव प्रयोगः स्यात्। मध्येऽन्ते चाश्रयाः स्फुटाः। ते च विस्मयधृतिप्रभृती[10]त्यास्तामेतत्।

वाक्यैकवाक्यत्वेनावस्थाद्वयस्यूतस्य शृङ्गारस्य यत्स्वरूपमुक्तमेतदेव परिशोधयितुं पूर्वपक्षयति—अत्राहेति। करुण विषये आश्रयणं विद्यते येषां भूम्ना अत एव कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्यामितीह नाश्रितम्। भूम्ना वहति ह्यत्र (वहतीत्यत्र) पूर्वपक्षस्य प्राणितम्।

ननु त्वयोक्तमसदेवास्त्वित्याशङ्क्याह—वैशिक्ये (के) त्यादि। वेशो वेश्यावर्गः। करुणं च सम्भोगात्मकम्। तत्प्रयोजनं शास्त्रं कामसूत्रं ये कृतवन्तस्तैः। शृङ्गारो दशभिरभिलषितादिभिर्मरणान्ताभिरवस्थाभिर्युक्तो दर्शितः। अवस्थाग्रहणेन च तावन्तो बहवो विप्रलम्भा इत्याशङ्कां निराकरोति। तेन चिन्तादयोऽपि व्यभिचारित्वेन रतेस्तैरनु[11]ज्ञाता इतितात्पर्यम्। चकारेणेदमाह—परस्परास्थाबन्धात्मकत्वे रतिरूपे स्थिते सति तदङ्गभूता दशावस्था विप्रलम्भाङ्गम्। यथोदयनस्य चित्रफलकावलोकनतः प्रभृति।

ननु तत्रापि [न] रतिः क्व। अ (त) स्य विषयस्यानवगमात्। न हि चित्रमात्रम्। नलिनीसंस्तरादेः साक्षिणो विद्यमानत्वात्। आकृत्या च काम्यमानौचित्यस्य लाभात्। यदि परं नाम तज्ज्ञास्त (न ज्ञातं त) त्कुत्रोपयोगीति। यदा तु विप्रलम्भाङ्गता न भवति तदा स्वातन्त्र्यं—यथा रावणस्यापि। तदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन—

'स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तौ तु सर्वप्राणिषु सम्भवः।' इति

नन्वेवं व्यभिचार्यभेदात्करुणं कथं विप्रलम्भाद्भिद्यत इत्याशङ्क्याह—करुणस्त्विति। अधमप्रकृतेस्तावन्न विप्रलम्भः। स्थाय्यभावात्। तदभावो विभावसामग्री वैकल्यादिति। तत्र तावत्करुणः पृथक् लब्धप्रतिष्ठः। एवमुत्तमप्रकृतावपि रतिविपरीतः शोकः करुणे स्थायी अत एवाह निरपेक्षः। बन्धुजनादिविषये याऽपेक्षा रताविवालम्बनम्।

यथोक्तम्— 'आशाबन्धः कुसुमसदृश[12]प्राणम्' इति (मेघ० १-१०) ततो निष्क्रान्तो भावः शोकाख्यो यस्मिन्। शापक्लेशे विनिपतितस्येष्टजनस्य यो विभावनाशो वधबन्धो वा ततः समुत्थानंयस्य। शापग्रहणेनाप्रतिकार्यत्वे सत्युत्तमप्रकृतेः शोकोदयस्थानमेतदिति दर्शयति। अन्यथोत्साहक्रोधादिविभावत्वं स्यात्। शोकत्वमेव च पराकर्तुं कविकुलचक्र-

१. अ. रसा। ब. यद्ययं शृङ्गारः तदा कथमिदानीमस्य करुणाश्रयिणो भावः। २. त. ननुपूर्वं। ३. न. ब. वैशेषिक। द. वैशिचशास्त्रकारेण। ४. भ. शास्त्रैश्च। ५. त. अ. इदं वाक्यं नास्ति। म. ताश्चावाथा। ६. म. त. करुणः पुनः। ७. तापक्लेशे सृष्टजनवियोग विभवः। अ. द. शोकक्लेशः। ८. न. त. चिन्ता भावसमुत्थः। ९. द. त. सापेक्षविप्रलम्भकृतः। १०. भ. तीति नित्या। ११. म. स्तैराज्ञाता इति तावत्। १२. भ. सदृशमिति।

एवमन्यः करुणोऽन्यश्च[1] विप्रलम्भ इति। एवमेष सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति।[2]

अपि च[3]

सुखप्रायेषु[4] सम्पन्नः ऋतुमाल्यादि[5]सेवकः।
पुरुषः[6] प्रमदायुक्तः शृङ्गार इति संज्ञितः ॥ ४६ ॥

अपिचात्र सूत्रानुविद्धे[7] आर्ये भवतः।

[8]ऋतु माल्या(ल)ङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः।
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति ॥ ४७ ॥
नयनवदनप्रसादैः [9]स्मितमधुरवचो धृतिप्रमोदैश्च[10]।
[11]मधुरैश्चाङ्ग विहारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ४८ ॥

वर्तिना पुरुरवसउर्वशीशापप्रासिरनु[12] रूप (रनुप) लक्षितत्वेन निबद्धा। एव विभावस्थायिविभेदो दर्शितः। येऽपि चैते निर्वेदाद्यास्तेऽपि वस्तुतो रत्यननुगृहीता निरपेक्षाच्छोकाद्भवन्त्यन्योऽन्य (न्तोऽन्य) एव। ततोऽप्याह[13] निरपेक्षभाव इति।

एवं प्रसङ्गात्करुणस्य स्वरूपमभिधाय प्रकृते योजयति-औत्सुक्यचिन्तेति। चिन्ताशब्दोऽशेषनिर्वेदाद्युपलक्षणम्। औत्सुक्यप्रधाना ये चिन्तादयस्तेभ्यः सम्यगुत्थानं विजृम्भो यस्या। अत एव सापेक्षो यत्र रत्याख्यो भावः। ते च सापेक्षाद्रत्याख्याद्भवन्ति। नहि विप्रलम्भे विभावः स्थायी च सम्भोगाद्भिद्यते। एक एवासाविति हि बहुश उक्तम्।

एतदुक्तं भवति। औत्सुक्यं विषयौन्मुख्यम्। तच्च नष्टे विषये न सम्भवति। एवं परीक्ष्य परीक्षाफलमुपसंहरति। एवमेष इति। शृङ्गारः इत्येकवचनेनैक एव शृङ्गार इत्युपसंहृतम्।

एवंसूत्रार्थे परीक्ष्य स्थापितेतदर्थस्य सुखग्रहणार्थे सूत्रार्थविवरणरूपत्वात्सूत्रसमीपेऽप्युपचितपाठात्कारिकामधुना पठति अपि चेति। न केवलं सूत्रं परीक्षाऽपि यावदियंकारिकेति समुच्चयार्थः। एवं सर्वत्र मन्तव्यम्।

तामेव कारिकां पठति—सुखेति।—पुरुष इति भोक्ता संवेदनात्मकोऽभिप्रेतः। भोक्तैव च स्थायिसंविद्रूपः। व्यभिचारिणस्तु भोगस्वभावाः। तेन रतिरेव पुरुषः। तथा चोक्तः 'श्रद्धामयोऽयं पुरुष' इति। एवं प्रमदाऽपि। तत्र भोक्तृत्वे पुरुषस्य प्राधान्यम्। प्रमदायास्तु भोग्यत्वम्। प्राधान्यादेव च तस्य भोग्येनापरतन्त्रीकरणमिति नायिकान्तर-

---

१. म. त. करुणोऽन्यो। २. म. भवेत्। ३. भः अपि चात्र श्लोकः। त. अमश्लोकः। ४. म. अ. त. ब. प्रायेसष्टम्पन्नः। ५. म. अ. माल्यानु। ६. म. अ. पुरुषप्रमदा। ७. न. त. सूत्रानुबन्धे। ब. सूत्राः विद्धे। द. अ. चात्रानुविधे। ज. अनुवंश्ये। ८. S. ऋतुमाला। ९. द. अ. स्मृति। १०. द. अ. प्रसादैश्च। ११. म. त. ललितैश्चाङ्गविसासैः अ. द. मधुरैश्चांग विशेषैः। द. ललितैश्चांगविचारैः। च. म. मधुरैश्चाङ्गविचारैः। १२. म. भ. रुपल। १३. ततो व्यूह।

योगेऽपि न शृङ्गारहानिः। भोग्यस्य तु पारतन्त्र्यादेवान्यसम्मीलने शृङ्गारभङ्ग इति दर्शितम्। अत एव न स्थायिभेदः शङ्कनीयः। सुखप्रायेषु सम्पन्न इत्यादि पुरुषविशेषणत्वेन समुदितस्य विभावत्वं दर्शयति। विभावादयो (न) रसोदयं विनाऽऽस्वादैश्च भोक्तरीति निमग्नत्वे भोक्तृप्रधानत्वं च दर्शयन्ति। विषयसम्भारपूर्णताभिमानजैवरतिरुचिता।

एतदर्थमेव 'जंस' अहं ॥देण दिण्णोति' 'ईरिसस्स कण्णपूरदंसणव्से'[2] ति (१) च। एतत्सर्वसम्पन्नत्वमेव नायिकायाः प्रदर्शितम्। अन्यथा नोत्तमत्वं स्यात्। निजजातिकुलानुरूपसम्पदभावे तु रतिः पुरुषार्थरूपत्वा (भावाद) नुपदेश्या। अत एव तत्र सर्वस्य प्रतीति वैरस्यानन्तरसंभावनमिति श्लोकस्य तात्पर्यार्थः।

विषयसामग्री सम्पूर्णो रस इति ये मन्यन्ते तेषाम[3]भ्रान्तिकारणमयं श्लोकः। स चेत्थं व्याख्यातो न भ्रान्तिजनकः। संश्रीयत (संज्ञित) इत्यनेनान्वर्थतां पराकरोति। तथाहि-उणादिषु शृङ्गारशब्दो निपातित इति।

न केवलं श्लोकवृत्तमिदं सूत्रार्थानुविद्धे यावदार्ये अपीत्यादि चेत्यस्य भिन्नक्रमस्यार्थः। प्रियो जनो विदूषकादिः। गान्धर्वशब्दो गीतादि हृद्यविषयोपलक्षणम्। काव्यसेवाशब्देन विषयसङ्कल्पं विभावत्वेन लक्षयति।

यस्त्वाह काव्यार्थीभूताद्रसात्काव्यार्थविदो भावान्तरं प्रादुर्भवति। अतः सुखजनकत्वात्काव्यार्थो रस इति। स प्रत्युक्तः। नहि विषयसामग्री रस इति पूर्वं दर्शितम्। धृतिप्रमोदशब्देन व्यभिचारिणो लक्षयति। एक एव च परमार्थतः शृङ्गार इत्यभिप्रायेणादाववस्थोपलक्षणद्वारेण सर्व एवोपसंहृतो मन्तव्यः।

इति शृङ्गाररसप्रकरणम्॥

---

१. म. जस ए अहं। भ. जस्स ए अग्ग। २. दंणस्ये। ३. तेषां भ्रान्ति।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२०	इत्यादि	रत्यादि
३	२९	क्रोधदि	क्रोधादि
४	१७	हाते	होते
६	३३	देखा जाता	देखी जाती
७	१	वायति	वायमिति
८	४	यत्तया	युत्तया
९	९	अनुक्त	अनुयुक्त
१२	१९	की	के
१३	२९	अग्नयानभास	अग्न्यवभास
१५	११	कस्याचित्	कस्यचित्
१५	२४	में	के
१६	१७	कता	सकता
१७	१४	ऐसे	ऐसे में
१९	५	लस्थानीया	दलस्थानीया
२०	२९	का	को
२३	१३	पह	पहले
२४	३	घातो	धातो
२५	२३	प्रतीति	प्रतीत
२८	१३	द्भिधया	दभिधया
,,	१९	योंऽशा	त्रयोंऽशाः
४२	६	दार्जि	दर्जि
४८	५	विद्याधार	विद्याधर
४८	२६	(सामाजिक)	(नटादि)

भाषा शास्त्र, व्याकरण, कोश तथा प्रयोजनमूलक हिन्दी विषयक ग्रन्थ

डॉ० बदरीनाथ कपूर	नूतन पर्यायवाची एवं विपर्याय कोश
डॉ० बदरीनाथ कपूर	लिपि, वर्तनी और भाषा
रघुनन्दनप्रसाद शर्मा	प्रयोजनमूलक हिन्दी : सिद्धान्त और व्यवहार
डॉ० कपिलदेव द्विवेदी	भाषा विज्ञान एवं भाषाशास्त्र
डॉ० भोलाशंकर व्यास	संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन
डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री	भाषा शास्त्र तथा हिन्दी भाषा की रूपरेखा
डॉ० कन्हैया सिंह	हिन्दी भाषा, साहित्य और नागरी लिपि
डॉ० माताबदल जायसवाल	मानक हिन्दी का ऐतिहासिक व्याकरण
डॉ० राजमणि शर्मा	आधुनिक भाषा विज्ञान
डॉ० राजमणि शर्मा	हिन्दी भाषा : इतिहास और स्वरूप
डॉ० निशान्त केतु	संस्कृत-हिन्दी कोश
डॉ० त्रिभुवन ओझा	प्रमुख बिहारी बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन
डॉ० शुकदेव सिह	कबीर बीजक का भाषा शास्त्रीय अध्ययन
डॉ० हरदेव बाहरी	कोश विज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग
डॉ० लालजी सिंह	हिन्दी का सांस्कृतिक परिवेश
डॉ० वासुदेव सिंह	कबीर काव्य कोष



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

मूल्य : पन्द्रह रुपये